अम्मा

और

बाबूजी को...

1857 का विद्रोह और अवध में लोकजीवनः 'पाहीघर' उपन्यास के संदर्भ में

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की एम.फिल. उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध–प्रबंध

शोध–निर्देशक
प्रो. चमन लाल

शोधार्थी
अजय कुमार वर्मा

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली–110067

2008

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Culture Studies
NEW DELHI-110067, INDIA

Dated : 18/07/2008

DECLARATION

I declare that the work done in this dissertation entitled **"1857 KA VIDHROH AUR AWADH MEIN LOK JEEVAN: 'PAHIGHAR' UPANYAS KE SANDARBH MEIN (THE REVOLT OF 1857 AND FOLKLIFE IN AWADH: IN THE CONTEXT OF NOVEL 'PAHIGHAR'"** by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/Institution.

Ajay Verma

Name : **AJAY KUMAR VERMA**
(Research Scholar)

Chaman Lal

Name : **PROF. CHAMAN LAL**
(Supervisor)
CIL/SLL & CS/JNU

V B Talwar

PROF. VIR BHARAT TALWAR
(Chairperson)
CIL/SLL & CS/JNU

GRAM : JAYENU, Tel.: (91-011) 26741557, 26742676 Extn. : 4217, (D) 26704217 Fax : (91-011) 26717603, 2671758

विषय–सूची

पृ.सं.

अपनी बात i-iii

प्रथम अध्याय 1–20

रचनाकार : व्यक्तित्व एवं कृतित्व (एक संक्षिप्त परिचय)

1. पाहीघर
2. बेदखल
3. जानकी बुआ (कहानी संग्रह)

द्वितीय अध्याय 21–53

1857 का विद्रोह

क. 1857 का विद्रोह

ख. कारण

ग. प्रकृति अथवा स्वरूप

1. 1857 का विद्रोह एक सिपाही विद्रोह था
2. विद्रोह एक पश्चगामी सामंतीय प्रतिक्रिया थी
3. 1857 का विद्रोह धर्मान्ध मुसलमानों की प्रतिक्रिया थी
4. 1857 का विद्रोह राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम के रूप में
5. यह विद्रोह किसान विद्रोह था
6. 1857 का विप्लव अवध का विद्रोह था

विभिन्न क्षेत्रों में हुई क्रांतिकारी घटनाएँ

विद्रोह की असफलता के कारण

परिणाम

तृतीय अध्याय 54–84

अवध का लोकजीवन : एक परिचय

क. लोकजीवन एवं लोकसाहित्य : अर्थ एवं महत्त्व

ख. अवध का लोकजीवन

1. सामाजिक जीवन
2. आर्थिक जीवन
3. राजनीतिक जीवन एवं राष्ट्रीय चेतना

चतुर्थ अध्याय 85–125

अवध का लोकजीवन 'पाहीघर' उपन्यास के परिप्रेक्ष्य में

क. अवध के किसानों का सामाजिक जीवन

ख. अवध के किसानों का आर्थिक जीवन

ग. अवध के किसानों का राजनीतिक जीवन

उपसंहार 126–131

ग्रंथानुक्रमणिका 132–136

क. आधार ग्रन्थ

ख. सन्दर्भ ग्रन्थ

ग. पत्र–पत्रिकाएँ

अपनी बात

1857 का विद्रोह एक व्यापक झंझावात था जिसने भारतीय इतिहास को गहरे स्तर पर प्रभावित किया। हिन्दी साहित्य भी इसके प्रभाव से अछूता नहीं रह पाया था। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत सभी विधाओं में हमें 1857 के विद्रोह की व्यापक प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। इस दृष्टि से उपन्यास विधा का विशेष स्थान है। 1857 के विद्रोह को केन्द्र बनाकर लिखे गए उपन्यासों में शांति नारायण का 'महारानी झाँसी', ओम प्रकाश शर्मा का 'साँझ का सूरज', केशव कुमार ठाकुर का 'सत्तावन', प्रताप नारायण श्रीवास्तव का 'बेकसी का मजार', आचार्य चतुरसेन शास्त्री का 'सोना और खून' तथा वृन्दावन लाल वर्मा का उपन्यास 'झाँसी की रानी' प्रमुख है। इसी उपन्यास परम्परा में कमलाकांत त्रिपाठी का 1991 में प्रकाशित 'पाहीघर' उपन्यास भी है, जिसमें 57 के विद्रोह की व्यापक प्रतिध्वनि के साथ–साथ अवध के लोकजीवन की झाँकी भी दिखाई देती है। इसी 'पाहीघर' उपन्यास को आधार बनाकर मैंने 1857 के विद्रोह और अवध के लोकजीवन को अपने नजरिए से देखने का एक छोटा सा प्रयास किया है।

1857 के विद्रोह और अवध के लोकजीवन को स्पष्ट करते हुए मैंने इसे चार अध्यायों में विभक्त किया है। पहले अध्याय **'रचनाकार : व्यक्तित्व एवं कृतित्व (एक सामान्य परिचय)'** में मैंने कमलाकांत त्रिपाठी का संक्षिप्त जीवन परिचय देने के पश्चात् उनके उपन्यास – 'पाहीघर', 'बेदखल' व कहानी संग्रह 'जानकी बुआ' का संक्षिप्त परिचय दिया है। दूसरे अध्याय **'1857 का विद्रोह'** में मैंने विद्रोह को उसकी

समग्रता में देखने का प्रयास किया है। तीसरे अध्याय **'अवध का लोकजीवन : एक परिचय'** में मैंने अवध में प्रचलित लोकगीतों, लोकनाट्यों व रीति–रिवाजों के माध्यम से अवध के लोकजीवन का एक सामान्य परिचय दिया है। फिर, चौथे अध्याय **'अवध का लोकजीवन – 'पाहीघर' के विशेष परिप्रेक्ष्य में'** मैंने 'पाहीघर' उपन्यास के माध्यम से अवध का लोकजीवन सामने रखने का प्रयास किया है।

इस विषय पर काम करने का उद्देश्य एक तो यह था कि इस पर अभी तक कोई विशेष काम नहीं किया गया था, फिर 1857 के विद्रोह की 150वीं वर्षगांठ भी कहीं–न–कहीं मुझे उद्वेलित कर रही थी। इसके साथ ही साथ अवध क्षेत्र का निवासी होने के कारण अवध की लोकसंस्कृति व लोकजीवन से लगाव ने भी मुझे इस पर कार्य करने के लिए प्रेरित किया। अवध का लोकजीवन जिसके तले मेरा बचपन बीता तथा जिसके बीच रहकर मैंने पिताजी की डाँट व मार के बावजूद, चोरी–चुपके, आइस–पाइस, चोर–सिपाही, गुल्ली–डण्डा, लखनी, चिलिया कराई–कराई, कबड्डी, खो–खो तथा कंचा जैसे खेल खेलने में कोई कटौती नहीं की व दादी माँ से रोज शाम को लोक–कहानियाँ, लोरियाँ, कहावतें आदि सुनी, उस अवध के लोकजीवन के बारे में कुछ लिखना मेरे लिए अपने सुखद बचपन को याद करना भी है। आज जबकि अवध के सामान्य जन–जीवन से ये खेल, कहावतें, लोरियाँ आदि लुप्त हो रही हैं और बच्चे अपना सारा समय क्रिकेट खेलने व मोटा चश्मा पहने, टीवी, कम्प्यूटर के सामने बिता रहे हैं, तो ऐसे समय में अवध की लोकसंस्कृति को याद करना निश्चय ही मुझे संतोष प्रदान करता है। इसके साथ ही साथ यदि मैं अपने इस छोटे से कार्य से 1857 के विद्रोही सिपाहियों को श्रद्धांजलि दे सका, तो यह मेरे लिए गर्व की बात होगी।

अपने इस कार्य में मुझे परमपिता परमेश्वर की असीम कृपा तो प्राप्त हुई ही साथ ही साथ ईश्वर समान मेरे अम्मा, बाबूजी और काका का भी आशीर्वाद सदैव मेरे साथ रहा। मेरी बहनों सुमन दीदी, मंगेस, अंतिमा और जीजा तथा भांजे तुषार, तरुण व मेरे पूरे परिवार का प्यार सहयोग व प्रोत्साहन सदैव मुझे मिलता रहा। निःसन्देह इन्होंने मेरी 'प्रतिभा' को एक नया रूप प्रदान किया।

मैं अपने शोध–निर्देशक **प्रो. चमन लाल** का हृदय से आभारी हूँ, जिनकी प्रेरणा एवं अमूल्य मार्गदर्शन से मैं इस कठिन से लगने वाले कार्य को पूरा कर सका।

और अंत में मैं अपने मित्रों अमरेश, दुष्यन्त, आशीष, शैलेष, विनोद, जितेन्द्र, देशराज, प्रदीप सर, रविकांत सर, विवेक सर, मनीश सर, राजमणि, राकेश, शीतांशु, अभिषेक, कौशल, राहुल, वंदना व शेफालिका आदि को धन्यवाद दूँगा जिनका सहयोग व प्रोत्साहन मुझे निरन्तर मिलता रहा, जिसका मैं सदैव आभारी रहूँगा।

अजय कुमार वर्मा

प्रथम अध्याय

रचनाकार : व्यक्तित्व एवं कृतित्व (एक संक्षिप्त परिचय)

1. पाहीघर
2. बेदखल
3. जानकी बुआ (कहानी संग्रह)

यह सर्वमान्य तथ्य है कि किसी भी रचनाकार के व्यक्तित्व एवं परिवेश का उसके कृतित्व से घनिष्ठ एवं व्यापक संबंध होता है। व्यक्तित्व में अन्तर्निहित विचार और धारणाएं कहीं न कहीं रचनाकार के साहित्य में भी दिखाई अवश्य देती हैं। संभवतः यही कारण है कि प्रायः ही कहा जाता रहा है कि किसी रचना को पढ़ने से पहले उसके लेखक को पढ़ो उसके बारे में जानो। रचनाकार के बारे में जानकर ही रचना में छिपे विचार और संदेश को हम भलीभाँति समझ सकते हैं, फिर वह चाहे कैसा और किसी भी काल का रचनाकार/लेखक क्यों न हो।

आजादी के बाद के कथाकारों की दूसरी पीढ़ी के रचनाकर्मियों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखने वाले कमलाकांत त्रिपाठी के बारे में भी उपर्युक्त बातें पूरी – तरह से लागू होती हैं। अवध क्षेत्र के एक छोटे से गाँव बसौली, जिसका 1857 के विद्रोह से घनिष्ठ संबंध है, के निवासी कमलाकांत त्रिपाठी अवध क्षेत्र के इतिहास को बारीकी से टटोलते हुए अपनी रचनाओं में तत्कालीन प्रमुख घटनाओं के साथ–साथ अवध के लोकजीवन का बहुत बारीक विश्लेषण–चित्रण करते चलते हैं।

''पाहीघर' व 'बेदखल' जैसी कृतियों के रचनाकार कमलाकांत त्रिपाठी का जन्म 25 फरवरी 1950 ई. को उत्तरप्रदेश के प्रतापगढ़ जिले के एक छोटे से गाँव बसौली में हुआ था। ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए त्रिपाठी जी का परिवार–मूलतः कृषि व्यवसाय से जुड़ा था। संभवतः यही कारण रहा है कि किसान जीवन को अपने उपन्यासों में वे इतनी जीवंतता से प्रस्तुत कर पाते हैं। प्रारम्भिक शिक्षा स्थानीय स्तर

पर ग्रहण करने के पश्चात् इन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से राजनीतिशास्त्र विषय में एम.ए. किया और तत्पश्चात् पंजाब विश्वविद्यालय से एम.फिल. की डिग्री हासिल की। प्रारंभ में कमलाकांत त्रिपाठी जी ने कुछ समय तक – (1975 तक) गोरखपुर विश्वविद्यालय में प्राध्यापन का कार्य किया। इसके पश्चात् त्रिपाठी जी भारतीय राजस्व सेवा के लिए चुन लिए गए। वर्तमान में ये आयकर विभाग मुंबई में कार्यरत हैं।

कमलाकांत त्रिपाठी की प्रसिद्धि का प्रमुख आधार उनका महत्वपूर्ण–उपन्यास 'पाहीघर' है। 1857 की पृष्ठभूमि को आधार बनाकर लिखा गया यह उपन्यास अवध के तत्कालीन लोकजीवन को बखूबी चित्रित करता है। 1857 के विद्रोह पर केन्द्रित होने के कारण तत्कालीन साहित्यिक हलकों में इस उपन्यास की काफ़ी चर्चा रही। यही नहीं त्रिपाठी जी के इस उपन्यास को 1991 का श्रीकान्त वर्मा स्मृति पुरस्कार व हिन्दी अकादमी, दिल्ली का साहित्यिक कृति पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है। 'बेदखल' कमलाकांत त्रिपाठी का दूसरा प्रमुख उपन्यास है, जो 'पाहीघर' की ही अगली कड़ी कही जा सकती है। अवध के किसानों की औपनिवेशिक कालीन समस्या को आधार बनाकर लिखे गए इस उपन्यास के केन्द्र में बाबा रामचन्द्र और उनका किसान आन्दोलन है। साथ ही साथ इसमें कांग्रेस की क्षुद्र राजनीति को भी बखूबी उभारा गया है। 'बेदखल' का प्रकाशन, वर्ष 1997 में हुआ था। इन दोनों उपन्यासों के अतिरिक्त कमलाकांत त्रिपाठी का एक कहानी–संग्रह 'जानकी बुआ' भी 1993 में प्रकाशित हुआ था, जिसमें कुल मिलाकर सात कहानियाँ संग्रहीत हैं। लगभग सभी कहानियों के केन्द्र में शोषण और किसान जीवन की दुर्दशा है।

कमलाकांत त्रिपाठी जी के बारे में सामान्य परिचय के पश्चात् अब उनकी रचनाओं के बारे में सामान्य जानकारी आवश्यक है। यहाँ हम उनकी रचनाओं की एक संक्षिप्त जानकारी दे रहे हैं।

1. पाहीघर

1857 के विद्रोह को केन्द्र में रखकर लिखा गया 'पाहीघर' कमलाकांत त्रिपाठी का प्रथम उपन्यास है। इसका प्रकाशन 1991 में हुआ था। 'पाहीघर' उपन्यास को ध्यान से पढ़ने पर यह सुखद आश्चर्य होता है कि इतिहासकारों की 1857 पर जो शोधपरक सामग्री इधर प्रकाश में आई है, और उसी 1857 के विद्रोह पर 'पाहीघर' उपन्यास में जो विवरण उपन्यासकार कमलाकांत त्रिपाठी ने दिया है, दोनों में बहुत ज्यादा टकराव नहीं है अपितु घटनाओं तथा स्थानों में काफी हद तक समानता दिखाई देती है। विद्रोह की विभिन्न घटनाओं में समानता है ही, इसके अतिरिक्त अवध के तत्कालीन समाज को भी उन्होंने बखूबी चित्रित किया है। जैसा कि एक जगह चंचल चौहान लिखते भी हैं –

> "अवध का समाज भी वैसे ही हमारे सामने उपस्थित हो उठता है जैसा कि उस समय के कई यूरोपियन चित्रकारों ने अपने चित्रों में अपनी तूलिका से चित्रित किया था, जो चित्र इस वर्ष – आई.सी.एच.आर. द्वारा आयोजित चित्र–प्रदर्शनियों में शामिल थे।"[1]

'पाहीघर' की इतिहासकथा तत्कालीन अवध के नवाब वाजिद अली शाह के शाहिबे आलम से सुल्ताने आलम (1847 ई.) बनने से आरम्भ होकर 1857 के –

---

[1] अनभै साँचा : 1857, बगावत का दौर – मुरली मनोहर प्रसाद सिंह (संपा), पृ. 252

महाविद्रोह के पश्चात् महारानी विक्टोरिया के द्वारा हिन्दुस्तान की सत्ता अपने हाथ में लेने तक विस्तृत है। अर्थात् यह उपन्यास 1847 से 1858 ई. तक के इतिहास के कालखण्ड को समेटता है। परन्तु 'पाहीघर' केवल इतिहासगाथा ही नहीं है अपितु अवध के लोकजीवन को बखूबी चित्रित करते हुए यह एक उत्कृष्ट ग्रामगाथा को भी प्रस्तुत करता है। स्वयं उपन्यास के नाम 'पाहीघर' से भी इसके लोकपक्ष की ही अभिव्यक्ति होती है। वास्तव में उपन्यासकार ने 1857 के ऐतिहासिक विद्रोह के कारणों और स्वरूप को सम्पूर्ण राष्ट्र की अपेक्षा तत्कालीन अवध और अवध के किसान जीवन के संदर्भ में चित्रित किया है और सही अर्थों में यही इस उपन्यास को विशिष्टता प्रदान करता है।

"पाहीघर" में उपन्यासकार ने कथानक को बहुत ही कलात्मक तरीके से 1857 की घटनाओं से जोड़ा है। उपन्यास में दो कथाएं लगभग समानान्तर रूप में चलती हैं। 1847 ई. में अवध की गद्दी पर बैठते ही नवाब वाजिद अली शाह ने अपनी फौजी ताकत में वृद्धि का प्रयास किया। अवध की जनता की हालत सुधारने के लिए यह आवश्यक भी था क्योंकि वे यह भलीभाँति जानते थे कि एक शक्तिशाली तथा कुशल सैन्यबल के बल पर ही अवध के तालुकेदारों व जमींदारों पर प्रभावी नियंत्रण स्थापित किया जा सकता था। परन्तु अवध के नवाब, ईस्ट इण्डिया कंपनी के साथ पूर्व में की गई एक संधि के तहत अपनी सेना को सीमित रखने के लिए मजबूर थे। अतः शक्तिहीन तथा लाचार नवाब वाजिद अली शाह अवध की अवाम के प्रति अपनी जिम्मेदारियों से विमुख होकर स्वयं को शायरी, महफिल, हरम व रासलीलाओं में डुबो देते हैं। पहले से जमींदारों व तालुकेदारों के अत्याचारों से पीड़ित अवध की अवाम के

दुखों में और भी अधिक वृद्धि हुई। चूंकि धन–धान्य से भरपूर अवध पर अंग्रेजों की नजर बहुत पहले से लगी थी, अतः अब उन्हें अवध की बिगड़ती दशा के रूप में एक बहाना मिलने लगा। इसी परिप्रेक्ष्य में अपनी विस्तारवादी नीति को दिशा प्रदान करते हुए तत्कालीन गवर्नर लार्ड डलहौजी ने अवध की बिगड़ती दशा में सुधार के लिए नवाब को दो वर्ष का अल्प समय दिया। नवाब के लिए, जो बहुत ही कम शक्तियों को धारण करता था तथा नाममात्र का शासक था, इतने कम समय में अवध की हालत सुधारना असंभव था। इस बीच 1849 ई. में कर्नल स्लीमैन को अवध का रेजीडेंट घोषित किया गया, जिसने पूरे अवध का व्यापक स्तर पर भ्रमण कर एक विस्तृत रिपोर्ट तैयार करवायी, जिसमें अवध की जनता की दशा और यहाँ के शासनप्रबंध को असंतोषजनक बताया गया था। अब अंग्रेजी कंपनी को अवध पर नियंत्रण रखने के लिए और भी आधार मिल गए। इसी बीच 24 नवम्बर 1854 को जनरल आउद्रम नामक अपेक्षाकृत एक कठोर रेजीडेंट की नियुक्ति अवध में कर दी गई, जिसने 7 फरवरी, 1856 ई. को अवध के 11वें नवाब वाजिद अली शाह को कंपनी का पेंशनर बनाकर अवध की अवाम के हित और सुख–शांति के नाम पर अवध का कुटिलतापूर्ण ढंग से अधिग्रहण कर लिया।

उपन्यास के इस ऐतिहासिक घटना के अतिरिक्त एक कल्पित घटना भी साथ–साथ चलती है, जो मूलतः अवध के ग्राम–जीवन को प्रतिबिम्बित करता है और जिसका प्रतिनिधित्व पं. गुरुदत्त का परिवार, जैकरन, रूपा आदि करते हैं। वास्तव में इस ऐतिहासिक घटना और संक्रमण के काल में उपन्यासकार ने शंकर, जैकरन, रूपा, दुर्बली आदि कल्पित पात्रों द्वारा तत्कालीन अवध के किसान जीवन की

बदहाली, शोषण, उत्पीड़न और जमींदारी–सामंती तथा महाजनी व्यवस्था के शोषक चरित्र को उद्घाटित किया है, जिसमें अवध की आम रिआया पिसती है। उपन्यास का आरम्भ पं. गुरुदत्त दूबे का अपने परिवार सहित, पैतृक गाँव छोड़कर बेहतर जीविकोपार्जन के उद्देश्य से बसौली गाँव (पाहीघर) आकर बसने से होती है। पं. गुरुदत्त मिर्जापुर के कंतित गाँव में रहते थे, जहाँ उनके पूर्वज देवी के मन्दिर में पण्डागीरी का काम करके अत्यन्त गरीबी में अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे। नवरात्र के महीने में मन्दिर में दर्शन करने आए दशरथपुर रियासत के तालुकेदार रायकुंजल सिंह, पं. गुरुदत्त दूबे के आतिथ्य सत्कार और उनके बड़े बेटे शंकर की कर्मठता से खुश होकर बसौली गाँव की खुदकाश्त जमीन को कम दाम पर देकर बसने के लिए आमंत्रित करते हैं –

> "इलाके में लगान की दर अमूमन छः रुपये बीघा थी। लेकिन रायसाहब ने गुरुदत्त से सिर्फ दो रुपया बीघा लेना स्वीकार किया। बागात, कुँआ, जंगल और पाहीघर के बारे में कोई लिखा–पढ़ी नहीं हुई। जो वहाँ रहेगा और देखभाल करेगा, वही इस्तेमाल भी करेगा।"[2]

चूंकि पं. गुरुदत्त के परिवार के आने से पूर्व पाहीघर के देखभाल की जिम्मेदारी वहाँ के अहीरों के मुखिया जैकरन के जिम्मे थी, जिसके बदले उसे भरण–पोषण के लिए थोड़ी मात्रा में जमीन भी मिली थी, अतः गुरुदत्त के परिवार के आने के बाद भी जैकरन तथा उसकी पुत्री रूपा का पाहीघर से बराबर जुड़ाव बना रहा। आकर्षक, ढीठ तथा कर्मठ रूपा विवाहित और गौना होने के बाद भी अपने

---

[2] पाहीघर – कमलाकांत त्रिपाठी, पृ. 15

मायके में ही रहती थी। रूपा के पिता जैकरन को भी उसके यहाँ रहने में कोई आपत्ति न थी, क्योंकि रूपा और उसकी सौतेली माँ ही गृहस्थी की सारी जिम्मेदारी सँभाले थी। दूबे परिवार के पाहीघर आने के बाद शीघ्र ही रूपा अपनी कर्मठता, मेहनत और शारीरिक आकर्षण से मालगुजार बने अविवाहित शंकर के प्रति आकर्षित होती है जिससे बाद में दोनों में शारीरिक संबंध भी स्थापित होता है। रूपा और शंकर के अवैध संबंधों के चलते चूंकि जैकरन की आर्थिक स्थिति काफी सुधर जाती है, यही कारण है कि सबकुछ जानते हुए भी वह अनजान बना रहता है। यहाँ तक कि शंकर से संबंधों के चलते जब रूपा गर्भवती होती है तब भी जैकरन शंकर से समझौता कर बेलना भक्तिन के माध्यम से रूपा को उससे मुक्ति दिलाता है। किन्तु शारीरिक और मानसिक रूप से निराश और बुरी तरह टूटी हुई रूपा शीघ्र ही मर जाती है। उसके बाद शंकर, जैकरन को जमीन से बेदखल कर देता है, इससे हताश और निराश होकर जैकरन भी माहुर खाकर आत्महत्या कर लेता है और एक समय बाद वह ग्राम देवता के स्तर को प्राप्त करता है। इस तरह नवाबी शासन से लेकर कंपनी और महारानी विक्टोरिया के शासनकाल तक में अवध के किसानों का शोषण और उत्पीड़न किसी भी स्तर पर कम नहीं होता अपितु और भी सघन होता जाता है।

कंपनी की घोषणाओं और उसकी चकाचौंध से प्रभावित होकर दुर्बली जैसे अनेक अवध के उच्च वर्ग के किसान परिवार के सदस्य कंपनी की सेना में शामिल हो जाते हैं। परन्तु उन्हें अनुभव हुआ कि सेना में उनके साथ भेदभाव की नीति अपनायी जा रही है तथा उनके सामाजिक–धार्मिक विश्वासों पर निरन्तर चोट किया

जा रहा है। इसके अतिरिक्त अंग्रेजों ने अनेक सैनिकों के परिवारों की भूमि को भी विभिन्न बहानों से छीन लिया था। कम वेतन तथा अंग्रेज़ अफ़सरों की भद्दी टिप्पणियों ने इसमें आग में घी का काम किया। उपन्यास में एक जगह भवानीप्रसाद कहता भी है –

> "अब तो यह हाल है पंडित जी कि जो अंग्रेज लौंडे आ रहे हैं वो लगता है विलायत से ही हमारे लिए गालियाँ सीखकर आते हैं। पहुँचते ही डंकी, सुअर, निग्गर पुकारना शुरू कर देते हैं।"[3]

इन सबके अतिरिक्त चरबी वाले कारतूसों की अफवाहों ने आग में घी का काम किया और भारतीय सैनिकों (तिलंगों) ने विद्रोह कर दिया, जिसमें अनेक सामंतों, जमींदारों तथा ताल्लुकेदारों ने विद्रोहियों का साथ दिया, परन्तु बहुत से जमींदारों, शासकों ने 'तरंगरोधक' का कार्य करते हुए अंग्रेजों की मदद की। अतः संगठन की कमी, संसाधनों के अभाव, निश्चित योजना के अभाव, नेतृत्व क्षमता की कमी व समय से पूर्व विद्रोह की घटना घटित हो जाने के चलते विद्रोह असफल रहा और अवध की जनता के शोषण–उत्पीड़न का एक नया दौर शुरू हुआ।

'पाहीघर' उपन्यास के माध्यम से रचनाकार 1857 के ऐतिहासिक विद्रोह की पृष्ठभूमि की न सिर्फ पड़ताल करता है अपितु अवध की जनता की भूमिका का चित्रण उसकी अपनी शब्दावली और लोकसंस्कृति के माध्यम से बड़े ही सराहनीय ढंग से करता है। ऐतिहासिक सन्दर्भ में अवध की जनता, तालुकेदार वर्ग और अंग्रेजों के मध्य के आपसी बनते–बिगड़ते संबंधों और रूपा, जैकरन, दुर्बली जैसे पात्रों की

---

[3] पाहीघर – कमलाकांत त्रिपाठी – पृ. 62

अलग–अलग ढंग से मृत्यु के माध्यम से कथाकार ने तत्कालीन उत्तर भारत के जनजीवन में व्याप्त अवसाद और हताशा को अत्यन्त ही कलात्मक रूप से अभिव्यंजित कर तद्युगीन अवध के किसान जीवन और उसकी विडम्बनाओं को चित्रित किया है, जो उपन्यास का मूल स्वर है।

2. बेदखल

1997 ई. में प्रकाशित कमलाकांत त्रिपाठी का दूसरा उपन्यास 'बेदखल' सही अर्थों में 'पाहीघर' उपन्यास की ही दूसरी कड़ी है। या, यों कहें कि 'बेदखल' उपन्यास की भूमिका वहीं से शुरू होती है जहाँ 'पाहीघर' उपन्यास का अंत होता है। 'बेदखल' औपनिवेशिक काल में अवध के किसान–जीवन, स्वाधीनता आन्दोलन के समानान्तर उभरे अवध किसान आन्दोलन की अस्वाभाविक परिणति और ऐतिहासिक–राजनीतिक विडम्बना के साथ–साथ लोकमन की प्रतिवादी और जुझारू सत्ता को बुनियादी तौर पर उद्घाटित करने वाला उपन्यास है। 'बेदखल' उपन्यास की भूमिका वहीं से शुरू होती है जब 'पाहीघर' उपन्यास में जमीन के नए बंदोबस्त के फलस्वरूप जैकरन अहीर जमीन से बेदखल होने पर माहुर खाकर अपने प्राण त्यागता है। एक अर्थ में देखा जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि बेदखल उपन्यास में जैकरन का विस्तार सुचित कुर्मी के रूप में, शंकर दूबे का विस्तार पदारथ तेवारी के रूप में और दुर्बली दूबे जैसे मानवीय संवेदना वाले चरित्र का विस्तार सालिकराम के रूप में होता है। परन्तु यहाँ ध्यान रखने की बात है कि कथाविस्तार की दृष्टि से 'बेदखल' उपन्यास 'पाहीघर' का अगला भाग होते हुए भी रचनाविधान, कथ्य तथा सोद्देश्यपरकता की दृष्टि से एक स्वतन्त्र कृति ही कही जा सकती है। त्रिपाठी जी

का 'बेदखल' उपन्यास 1868 में अवध लगान कानून के लागू होने से लेकर बाबा रामचंद्र के नेतृत्व में होने वाले अवध किसान आन्दोलन और उसकी अस्वाभाविक परिणति के माध्यम से इतिहास के झरोखे में देखता है और अतीत को उसकी सामाजिक राजनीतिक जटिलताओं के साथ उपस्थित करता है, यही नहीं इसके साथ ही साथ वह वर्तमान और भविष्य की शिनाख्त भी पूरे अन्तर्मन से करता चलता है।

ज्ञातव्य है कि 1857 के महाविद्रोह के पश्चात् नवीन व्यवस्था के तहत अवध में लागू नई भूधृति व्यवस्था को 1868 के अवध लगान कानून द्वारा वैधानिकता प्रदान कर अवध के तालुकेदारों को जमीन पर पूर्ण मालिकाना हक दे दिया गया। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि अवध के किसानों को लगान देकर जमीन जोतने–बोने का सदियों से चला आ रहा पारम्परिक अधिकार एक झटके में समाप्त हो गया। कालान्तर में अवध के तालुकेदारों द्वारा जनता से बेगारी के साथ–साथ नजराने के रूप में हथियावन, घोड़ावन, मोटरावन, लठियावन, फोड़ावन, धुरियावन आदि लिया जाने लगा। इन गैर–कानूनी करों के अतिरिक्त किसान शोषण के शिकार तो हुए ही, साथ ही साथ ही महाजनी–व्यवस्था के भी गिरफ्त में आते चले गए। इन सबका दुष्परिणाम यह निकला कि किसानों को उनकी अपनी भूमि से तेजी से बेदखल किया जाने लगा। रचनाकार ने तत्कालीन व्यवस्था व शोषण को अपने 'बेदखल' उपन्यास में बसौली गाँव के सालिक राम और महाजन पदारथ तेवारी जैसे चरित्रों के माध्यम से उद्घाटित किया है, जिसमें सुचित जैसे ना जाने कितने निम्नवर्गीय किसान 'बेदखली' का शिकार होकर किसान से मजदूर बनने की नियति को प्राप्त होते हैं।

निश्चय ही सुचित जैसे किसान का ऐसा हश्र हमें 'गोदान' के होरी की तरफ़ ध्यान खींच ले जाता है जिसकी किसान से मजदूर बनने की कथा अत्यन्त त्रासदपूर्ण है।

औपनिवेशिक काल में किसानों का बहुत पहले से ही शासक वर्ग द्वारा शोषण होता चला आ रहा था। परन्तु किसानों की स्थिति और भी खराब तब होनी शुरू हुई जब 1914 ई. में प्रथम विश्वयुद्ध शुरू होने के पश्चात् सरकार किसानों से वैध–अवैध तरीके से चंदा वसूल करने लगी और उनपर अनेक प्रकार के कर थोपे जाने लगे जबकि किसानों की दशा को सुधारने का कोई प्रयास नहीं किया गया। ऐसी विषम स्थिति में अवध के किसानों की स्थिति बेदखली के साए में जीते बंधुआ मजदूर सी हो गयी। ठीक ऐसे ही समय में जब अवध की आम जनता साम्राज्यवाद, सामंतवाद और महाजनी व्यवस्था के तिहरे शोषण में पिस रही थी, तब इन किसानों के असंतोष को स्वर प्रदान किया प्रतापगढ़ जिले के रूरे गाँव के किसान झिंगुरी सिंह और सहदेव सिंह ने। इनके अन्तर्गत आन्दोलन अभी प्रारम्भिक अवस्था में ही था कि इस आन्दोलन को बाबा रामचंद्र का चमत्कारी नेतृत्व प्राप्त हुआ। बाबा रामचंद्र फिजी से लौटे एक महाराष्ट्रीय व्यक्ति थे, जिन्होंने अवध के किसानों में राजनीतिक चेतना और संगठन शक्ति का विकास कर किसान आन्दोलन को एक जनान्दोलन का रूप प्रदान किया। बाबा रामचंद्र ने 'अवध किसान सभा' का गठन कर 14 मंत्रों की एक किसान–प्रतिज्ञा तैयार करवाई तथा नाई–धोबी बन्द का आह्वान किया। इस किसान प्रतिज्ञा के माध्यम से बाबा रामचंद्र ने अवध के तालुकेदारों के गैरकानूनी नजरानों और बेदखली के विरूद्ध जोरदार अभियान किया। 'अवध किसान सभा' की बढ़ती शक्ति तथा जनता के बीच बढ़ते इसके प्रभाव से घबड़ाकर सामंतवादी–साम्राज्यवादी

सत्ता ने इस आन्दोलन को नेतृत्वविहीन करने के लिए अपनी कुटिल चालों से बाबा रामचंद्र और उनके अन्य साथियों पर निहायत ही झूठा इल्जाम लगाकर बंदी बना लिया। परन्तु इस शोषक वर्ग को उस समय मुँह की खानी पड़ी जब लगभग अवध के चालीस हजार किसानों ने एकजुट होकर ब्रिटिश सत्ता को अपनी संगठित शक्ति के समक्ष झुकने पर मजबूर कर दिया। निश्चय ही अवध के किसानों की ब्रिटिश शासन के खिलाफ यह पहली ऐतिहासिक जीत थी।

चूंकि बाबा रामचन्द्र पर किसान आन्दोलन को एक वृहद स्तर पर शुरू करने के लिए उसे राष्ट्रीय आन्दोलन से जोड़ने के लिए निरन्तर दबाव बन रहा था। अतः किसान समस्या को राष्ट्रीय आन्दोलन से जोड़ने के लिए बाबा रामचंद्र ने "यू.पी. किसान सभा' के नेता गौरीशंकर मिश्र आदि के सहयोग से 20 दिसम्बर, 1920 को अयोध्या में एक विशाल रैली का आयोजन किया जिसमें ब्रिटिश सत्ता के शोषण व गुलामी को प्रतीकित करने के लिए वे मंच पर स्वयं को बेड़ियों में जकड़कर प्रस्तुत हुए थे। चूंकि कांग्रेस एक राष्ट्रीय संस्था थी, तथा उसका प्रभाव अधिक व्यापक था अतः अपनी समस्याओं से कांग्रेस नेताओं को अवगत कराने के लिए अवध के किसान नेताओं ने जवाहरलाल नेहरू, पुरुषोत्तम दास टण्डन तथा कांग्रेस के कई किसान नेताओं को प्रतापगढ़ के किसानों की सामाजिक–आर्थिक दशा को देखने–परखने के लिए आमंत्रित किया। यहाँ हमें कांग्रेस के छद्म जनवादी चरित्र के दर्शन होते हैं। वास्तव में कांग्रेसी नेताओं का चरित्र दोहरा है, वे किसानों की समस्या से तो परिचित हैं, परन्तु उन्हें दूर करने का कोई प्रयास नहीं करना चाहते क्योंकि वे जमींदारों तथा तालुकेदारों का साथ छोड़ने को कतई तैयार नहीं है। जबकि किसानों का साथ देने

का अर्थ होता कि कांग्रेसी तालुकेदारों व जमींदारों से दूर होते चले जाते और वे जमींदारों से प्राप्त सुविधाओं से भी वंचित हो जाते। इन सबके अतिरिक्त कांग्रेसी नेता बाबा रामचंद्र की अवध के किसानों में बढ़ती लोकप्रियता से भी भयभीत थे। यही वे कारण थे जिनके चलते कांग्रेस नेतृत्व किसान वर्ग की एकजुटता और राजनीतिक चेतना को दिशाविहीन और भोथरा करने में सक्रिय हो जाता है। यह कांग्रेस की कुटिल चालों का ही परिणाम था कि बाबा रामचंद्र को 15 जनवरी 1921 को ऊँचाहार में आयोजित किसान सभा में पहुँचने से रोकने का पूरा प्रयास किया गया और कालान्तर में उन्हें इलाहाबाद स्थित आनन्द भवन में नजरबंद भी किया गया, ताकि किसान आन्दोलन पर प्रभावी नियंत्रण स्थापित किया जा सके। इन सबका परिणाम यह निकला कि नेतृत्वविहीन किसान आन्दोलन ने हिंसक और उग्र रूप अख्तियार कर लिया। कांग्रेस संस्था हिंसा की आड़ में इस आन्दोलन को दबाने के लिए ब्रिटिश शासन के साथ कुचक्र में शामिल हो गई। अंततः 10 फरवरी 1921 को बनारस की सभा में गाँधी जी की उपस्थिति में बाबा रामचंद्र की गिरफ्तारी और सजा के बाद किसान आन्दोलन राजनीतिक दमन और कांग्रेसी कुचक्र का शिकार होकर बिखर जाता है। इस प्रकार एक तूफान के उभरकर बिखर जाने की टीस और अवसाद के साथ उपन्यास का अंत होता है।

यद्यपि उपन्यास में अवध के कृषक जीवन और संस्कृति का सजीव चित्रण तो किया ही गया है तथापि इसके साथ ही साथ और बराबर उपन्यास के केन्द्रीय पात्र बाबा रामचंद्र के जीवन में घटी विभिन्न घटनाएँ, उनके घर से भागने, गिरमिटिया मजदूर के रूप में फिजी जाने, वहाँ सामाजिक–राजनीतिक गतिविधियों में सक्रिय

रहने के चलते देश छोड़ने से लेकर, पुनः भारत आने पर अवध के किसान आन्दोलन से स्वयं को जोड़ने और इसी क्रम में किसान आन्दोलन में शामिल धिराजी के साथ रागात्मक संबंध, जिसकी नाटकीय परिणति उसकी बेटी जग्गी से शादी के रूप में होती है, का प्रामाणिक अंकन हुआ है। इन सबके अतिरिक्त उपन्यासकार कमलाकांत त्रिपाठी ने उपन्यास में अवध के किसानों के शोषण व उनके किसान से मजदूर बनने की गाथा का तो चित्रण किया ही है, साथ ही साथ कांग्रेस की कुटिल चालों का पर्दाफाश भी बड़ी सफलता से किया है। वास्तव में अवध का किसान आन्दोलन ऊपर से राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्यधारा का अंग भले लगे, परन्तु दोनों में बुनियादी फर्क था। जहाँ मुख्यधारा सत्ता में महज ऊपरी परिवर्तन की हिमायती थी तथा अपने स्वार्थों के निमित्त देशी जमींदारों व तालुकेदारों के कुचक्रों के प्रति आँखें मूँदे रही, वहीं किसान आन्दोलन ने भू–व्यवस्था और उससे जुड़ी उस विषय सामाजिक संरचना को चुनौती दी, जिसके केन्द्र में यही तालुकेदार व जमींदार थे। इसकी प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है, संभवतः यही कारण है कि इस अन्तर्विरोध को रेखांकित करने के लिए ही लेखक ने इतिहास की इस विडम्बना को अपने उपन्यास का विषय बनाया है।

3. जानकी बुआ (कहानी संग्रह)

'पाहीघर' तथा 'बेदखल' जैसे दो उपन्यासों के अतिरिक्त कमलाकांत त्रिपाठी का 'जानकी बुआ' नाम से एक कहानी–संग्रह भी प्रकाशित हुआ है। 'जानकी बुआ' कहानी संग्रह का प्रकाशन वर्ष 1993 में हुआ था तथा इसमें कुल सात कहानियाँ हैं। त्रिपाठी जी की सभी कहानियों को पढ़ने पर यह स्पष्ट होता है कि ये कहानियाँ ध्वंस

और विद्रोह के खोखले नारों और कृत्रिम विद्वेष की पक्षधरता से बचते हुए, सामान्य जन की सदाशयता और सहज जीवन मूल्यों में उसकी अन्तर्निहित आस्था को व्यक्त करती हैं। इनकी प्रायः सभी कहानियों में सामाजिक रूढ़ियों और धार्मिक आडम्बरों के प्रति एक विद्रोह तो है ही, साथ ही साथ उनकी कहानियों में मानवीय संवेदना और जीवन के प्रति राग–अनुराग को भी पूरी जगह मिलती है।

संग्रह की पहली कहानी है – 'सरहद पार'। आज के दौर में जबकि भारत के दो प्रमुख धर्मों–हिन्दू और मुस्लिम के बीच कुछ स्वार्थी तत्वों के चलते खाई चौड़ी होती जा रही है तथा साम्प्रदायिक शक्तियाँ अपने कुत्सित प्रयासों से भारतीय संस्कृति को बुरी तरह क्षतिग्रस्त कर रही हैं, कहानीकार ने इसे 'जाहिद' की त्रासदी के माध्यम से दिखाया है। गाँव में दूसरे कबीले का होते हुए भी जाहिद अपने मानवीय गुणों के कारण गाँव के सुख–दुख का हिस्सा बन जाता है। गाँव में हैजा फैलने पर जब सब लोग गाँव छोड़कर भाग जाते हैं तो वह जाहिद ही है जो ऐसे कठिन समय में तनिक भी भयभीत हुए बिना बीमारों को पानी पिलाता है, उनके बिस्तर साफ करता है और मरे लोगों के लिए जमीन खोदता है। अपने इन्हीं गुणों व लगन के कारण जाहिद गाँव में हनुमान जी का अवतार माना जाने लगता है। धर्मांधता और उन्माद का विरोधी होने के कारण जाहिद को अपने धर्म के लोगों से तिरस्कार भी झेलना पड़ता है क्योंकि जाहिद जमीन को लेकर कुर्मियान और मुसलमानों के बीच बढ़ते तनाव को रोकने का प्रयास करता है। आगे चलकर जमीन विवाद में निर्दोष होने पर भी उसे जेल जाना पड़ता है। इस बीच उसके पट्टीदार आकर उसके मवेशी और मुर्गियों को भी उठा ले जाते हैं। इतना ही नहीं जाहिद को

फालिज़ मारने के बाद गाँव में मन्दिर–मस्जिद विवाद के कारण बढ़ते तनाव के समय ज़ाहिद का दूर का भतीजा न सिर्फ उसके घर पर अपना कब्जा जमा लेता है अपितु जमीन–जायदाद भी अपने नाम करवा लेता है। कहानी के अंत में हम जाहिद की त्रासदी को उसकी पूर्णता में देखते हैं। जिस संतुलन को बनाये रखने के लिए जाहिद पूरे जीवनभर संघर्षशील रहा, वही संतुलन कहानी के अंत में उसकी दुष्ट भतीजे के कारण गड़बड़ाता नजर आता है।

'सुकुल' संग्रह की दूसरी कहानी है। यह रिश्तों की उधेड़बुन पर आधारित चरित्रप्रधान कहानी है। चूंकि सुकुल के माता–पिता की बचपन में ही मृत्यु हो गई थी, अतः इनका अधिकांश समय अपने ननिहाल में ही बीतता था। विचारों में मतभेद के चलते अपनी पत्नी (सुकुलाइन) से इनकी जीवनभर अनबन ही रही, क्योंकि सुकुलाइन को सुकुल के घर रहना स्वीकार न था और न ही सुकुल ससुराल में रहने को तैयार थे। यही इन दोनों के जीवन की गाँठ बन जाती है। सुकुल से लेखक ने अपना एक घनिष्ठ संबंध स्थापित कर लिया था। इसके पीछे अन्य कारणों के साथ–साथ उनसे तोता–मैना की कहानी सुनने की इच्छा तो थी ही साथ ही चाची के साथ रागात्मक संबंधों के कारण भी कहानीकार सुकुल से अपना जुड़ाव निरन्तर महसूस करते रहे। अपनी इस कहानी में उन्होंने मानवीय राग–विराग को पूरी अभिव्यक्ति प्रदान की है।

'पुण्यात्मा' संग्रह की तीसरी कहानी है, जिसमें लेखक ने निम्नवर्गीय चरित्र रामदास के माध्यम से सामंती शोषण को पूरी अमानवीयता के साथ चिह्नित किया है। घर के मालिक की अनुपस्थिति में पूरी मेहनत और ईमानदारी के साथ वह

मालिक की गृहस्थी को सँभालता है, परन्तु वही मालिक जब घर लौटता है तो उसके कार्यों को कोई महत्व नहीं देता अपितु उसपर लूटने–खाने का आरोप लगाता है।

> "सारी गृहस्थी लूट कर खा रहे हो। कोई देखने वाला, हाथ रोकने वाला नहीं है। उसी से नोच–नोच कर मकान खड़ा कर लिया। अब और माँगते शरम नहीं आती।"[4]

इन आरोपों से आहत होकर और अपनी आर्थिक दशा सुधारने की चाह में रामदास कलकत्ता जाता है, किन्तु वहाँ से कोई बड़ी बीमारी लेकर गाँव वापस लौटता है। गरीबी और बीमारी से संघर्ष करते–करते अंततः वह जीवन से थक जाता है और अंत में अकाल मृत्यु को प्राप्त करता है। कहानी का अंत बड़ा ही ट्रैजिकपूर्ण है। कहानी में पूँजीवाद के शोषक चेहरे को बड़े ही प्रभावी ढंग से व्यक्त किया गया है।

संग्रह की चौथी कहानी का नाम 'जानकी बुआ' है। कमलाकांत त्रिपाठी ने अपनी इस कहानी में सामाजिक रिश्तों को बड़ी गहराई के साथ सूक्ष्म पर्यावलोकन किया है। पति और बेटों को बहुत पहले ही खो देने वाली जानकी बुआ अपनी दो बेटियों के साथ दुख को झेलती तो है लेकिन वे जीवन के मूलराग को कभी भी नहीं भूलतीं। संभवतः यही कारण है कि सबसे चुहल करने वाली तथा शादी–विवाह को नाच–गाने के माध्यम से जीवंत बनाने वाली जानकी बुआ जीवंतता की साक्षात् प्रतिमूर्ति थी। नारी–संवेदना को कहानीकार ने रियासत की ठकुराइन के माध्यम से दिखाया है, जो दुख के दिनों में बुआ का सहारा बनती है। यह जानकी बुआ ही थीं

---

[4] जानकी बुआ (पुण्यात्मा) – कहानी संग्रह – कमलाकांत त्रिपाठी – पृ. 34

जो न सिर्फ बेटों और बहुओं से उपेक्षित अपनी माँ की सेवा करती हैं बल्कि भतीजे को अनपढ़ बहू को पत्नी के रूप में स्वीकार करने के लिए प्रेरित भी करती हैं –

> "लड़की अपने माँ–बाप, भाई–बहन, सखी–सहेलियों का संसार छोड़कर सिर्फ एक आदमी के सहारे ससुराल आती है। उसी एक नाते एक अनजान परिवार से रिश्ता जोड़ती है, पराये लोगों को अपनाती है, सबकी सेवा–टहल करती है। अगर वह आदमी भी मुख मोड़ ले तो वह कहाँ जाए, किसके सहारे जीए?"[5]

संग्रह की पाँचवी कहानी 'बीज' है, जिसमें कहानीकार ने नारी अस्मिता और उसकी विवशता से उपजी पीड़ा को अभिव्यक्ति प्रदान की है। यह नारी अस्मिता और स्वाभिमान ही था, जिसके एहसास के कारण ही कहानी की केन्द्रीय पात्र 'भुइला' ससुराल से परित्यक्त होने पर दुबारा नहीं लौटती। भुइला अपने को पुरुष के उपभोग का साधन नहीं मानती अपितु स्त्री–पुरुष के संबंध को इससे आगे बढ़कर ऐसा आत्मीय संबंध मानती है, जहाँ एक–दूसरे के प्रति प्रेम एवं विश्वास हो। इन मूल्यों के प्रति विश्वास के कारण ही वह अपनी बेटी के ससुराल से लौटने पर टूट जाती है और उसकी बेटी लौटकर पुनः भुइला की तरह भक्ति–धर्माचरण के साथ रहते हुए इतिहास दोहराने और जीने को विवश होती है। पुरुष समाज में नारी की वास्तविक स्थिति क्या है, इसका बहुत सटीक वर्णन कहानीकार ने अपनी इस कहानी में किया है।

---

[5] जानकी बुआ – कमलाकांत त्रिपाठी – पृ. 44

संग्रह की छठी कहानी 'मरीचिका' है। अन्य कहानियों से यह इस अर्थ में भिन्न है कि जहाँ त्रिपाठी जी की अन्य कहानियाँ ग्रामीण जीवन को केन्द्र बनाकर लिखी गई हैं, 'मरीचिका' उससे भिन्न परिवेश की कहानी है। 'मरीचिका', शीर्षक कहानी में लॉस–एंजेल्स में चल रहे प्रशिक्षण के दौरान बनते–बिगड़ते संबंधों और संस्कृति के नाम पर अमानवीयता की ओर बढ़ते जनजीवन का संकेत है। ग्रामीण परिवेश से भिन्न त्रिपाठी जी की इस कहानी में उस स्वाभाविकता के दर्शन हमें नहीं होते, जो उनकी ग्रामीण परिवेश को आधार बनाकर लिखी गई कहानियों में मिलती है।

संग्रह की सातवीं तथा अंतिम कहानी 'वह' आरक्षण समस्या तथा कुलीन व शूद्र संस्कारों के द्वन्द्व से उलझे चरित्रों की कहानी है। प्रस्तुत कहानी में कहानीकार ने पारम्परिक सामाजिक व्यवस्था की उन गहरी जड़ों की ओर संकेत किया है, जो आर्थिक और वैचारिक स्वतन्त्रता के बाद भी मनो–मस्तिष्क पर छाया रहता है। कहानीकार ने इस कहानी में मानवीय रिश्तों और द्वन्द्वों के माध्यम से सामाजिक रूढ़ियों का सशक्त चित्रण किया है।

स्पष्ट है कि कहानीकार कमलाकांत त्रिपाठी की प्रायः सभी कहानियों में सामाजिक रूढ़ियों, आडम्बरों तथा व्यवस्था को लेकर एक प्रकार का विद्रोह है, जो अपने परिवेश और परम्परा को अपने में पूरी तरह से समाहित किए हुए हैं।

सन्दर्भ–संकेत

1. अनभै साँचा : 1857, बगावत का दौर – मुरली मनोहर प्रसाद सिंह (संपा), पृ.–252
2. पाहीघर – कमलाकांत त्रिपाठी, पृ. 15 – राजकमल पेपरबैक्स–1994
3. पाहीघर – कमलाकांत त्रिपाठी, पृ. 62 – राजकमल पेपरबैक्स – 1994
4. जानकी बुआ (पुण्यात्मा) – कहानी संग्रह – कमलाकांत त्रिपाठी – पृ. 34 – आर्यबुक डिपो, करोलबाग, 1998
5. जानकी बुआ – कमलाकांत त्रिपाठी – पृ. 44 – आर्य बुक डिपो – करोलबाग–1993

द्वितीय अध्याय

1857 का विद्रोह

क. 1857 का विद्रोह
ख. कारण
ग. प्रकृति अथवा स्वरूप
   1. 1857 का विद्रोह एक सिपाही विद्रोह था
   2. विद्रोह एक पश्चगामी सामंतीय प्रतिक्रिया थी
   3. 1857 का विद्रोह धर्मान्ध मुसलमानों की प्रतिक्रिया थी
   4. 1857 का विद्रोह राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम के रूप में
   5. यह विद्रोह किसान विद्रोह था
   6. 1857 का विप्लव अवध का विद्रोह था

विभिन्न क्षेत्रों में हुई क्रांतिकारी घटनाएँ
विद्रोह की असफलता के कारण
परिणाम

5- 1857 का विद्रोह

प्राचीन सभ्यताओं और गौरवशाली अतीत को अपने में संजोएं–सँभाले भारत के सुदीर्घ इतिहास में 1857 का वर्ष एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वास्तव में यही वह वर्ष था, जिसमें उत्तरी व मध्य भारत में उठे व्यापक जन–विद्रोह ने उस ब्रिटिश साम्राज्य की चूलें हिला दी थी, जिसके बारे में यह आम धारणा थी कि इसका सूरज कभी अस्त नहीं होता। ब्रिटिश अकादमिक परम्परा में 'सिपाही विद्रोह' के रूप में चर्चित यह व्यापक भारतीय झंझावात 'ब्रिटिश' राज के इतिहास के लिए भी एक महत्वपूर्ण मोड़ था। दरअसल, भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के अग्रदूत के रूप में चिन्हित यह महान विद्रोह सीधे ब्रिटिश हुकुमत थोपने के विरूद्ध परम्परागत उत्तर भारत का अंतिम धक्का था। यद्यपि विद्रोह बंगाल सेना के सिपाहियों जिसमें अधिकांश अवध के उच्चवर्ण के लोग शामिल थे, की ओर से शुरू हुआ था, परन्तु बहुत जल्दी ही यह परम्परागत सामंतों एवं राजाओं के नेतृत्व में उत्तर भारत के मैदानी इलाकों में एक व्यापक जन–विद्रोह के रूप में बदल गया और इसमें जन–भागीदारी का तेजी से विस्तार हुआ। TH-17834

भारतीय इतिहास में 1857 के विद्रोह की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए के.एन. पणिक्कर ने एक जगह उचित ही कहा है कि– "1857 का विद्रोह अंत भी था और शुरूवात भी। इस विद्रोह के पश्चात इतने बड़े पैमाने पर औपनिवेशिक शासन के विरूद्ध और कोई सशस्त्र संघर्ष नहीं हुआ। हाँलाकि इससे पहले भी देश के विभिन्न इलाकों में सत्ता से हटाए गए सांमतों और जनता ने कई विद्रोह किए थे। ये विद्रोह

कई कारणों से प्रेरित थे और स्थानीय परिस्थितियों ने उनका स्वरूप निर्मित किया था। लेकिन निश्चित रूप से उनका संबंध औपनिवेशिक दासता द्वारा उत्पन्न मुश्किलों से था। उन्होंने बाहरी सत्ता के विरूद्ध शुरूवाती प्रतिरोधों को मूर्त रूप दिया। अंग्रेज़ी राज को मजबूत करने से रोकने वाली इन असफल कोशिशों में किसान, आदिवासी, जमींदार और भूतपूर्व शासक सभी शामिल थे। अंग्रेजी राज के विदेशी होने से परिचित लेकिन उसके औपनिवेशिक चरित्र से अपरिचित ये सभी विद्रोह एकाकी घटनायें थीं, और इसीलिए उन्हें आसानी से दबाया जा सका। नेताओं के बीच कुछ हद तक पारस्परिक साझेदारी और संवाद के बावजूद 1857 का विद्रोह अनिवार्यता पहले की कोशिशों का विशाल पैमाने पर प्रदर्शन था। इसकी असफ़लता राष्ट्र राजनीतिक चेतना की दिशा में एक युगांतकारी घटना थी, क्योंकि उपनिवेशवाद के विरूद्ध संघर्ष में एक नए चरण की अगुवाई इसी से मुमकिन हुई।[1]

ब- कारण

यद्यपि ब्रिटिश साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने 1857 के विद्रोह को सैनिक असंतोष तथा चरबी वाले कारतूसों से जोड़ कर देखा है, परन्तु आधुनिक इतिहासकारों ने चरबी वाली घटना को मात्र एक तात्कालिक मुद्दे के रूप में देखा हे, जिसने कई वर्षों से सुलग रहे ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के विरूद्ध असंतोष की ज्वाला को भड़का दिया था। फिर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इन विद्रोहियों ने फिरंगियों के विरूद्ध उन्हीं कारतूसों का प्रयोग किया जिसके कारण उन्हें अपने धर्म तथा मजहब पर खतरा मडँरा रहा था और जिसके विरूद्ध उन्होंने अंग्रेजों के विरूद्ध

---

[1] निरन्तरता और परिवर्तन (उद्भावना) – पृ. 209

बगावत की थी। वास्तव में चरबी वाले कारतूस की घटना ने मात्र 1857 के वर्ष को महत्वपूर्ण बनाने का कार्य किया था। विद्रोह अवश्यभांवी था, अतः 1857 के विद्रोह को ब्रिटिश साम्राज्यवादी तथा औपनिवेशिक सरंचना से जोड़कर देखे जाने की आवश्यकता है। विद्रोह वस्तुतः एक लम्बे समय काल में विकसित भारतीय असंतोष का परिणाम था। विद्रोह की घटना में कई कारकों की सम्मिलित भूमिका थी, जो निम्नवत है–

1. कपंनी की साम्राज्यवादी प्रसार नीति के कारण पुराने राजा और नवाब अपने राज्य को खो बैठे। इसका परिणाम यह हुआ कि अब इन राज्यों के अर्न्तगत कार्य करने वाले अधिकारी एवं सैनिक बेरोजगार हो गए। विरोधाभास यह था कि इन राजाओं और कुलीनों ने ही भारत में ब्रिटिश शासन का समर्थन एवं सहयोग किया था, परन्तु कंपनी सरकारी ने उन्हीं कुलीन तत्वों को विस्थापित करना प्रारम्भ कर दिया। डलहौजी के व्यपगत सिद्धांत के द्वारा छोटे–छोटे बहाने बनाकर जिस तरह से सतारा, नागपुर, झाँसी, सभंलपुर, बघाट, जैतपुर आदि को ब्रिटिश साम्राज्य में शामिल किया गया, उससे इन राज्यों द्वारा अंग्रेजों के विरूद्ध प्रतिक्रिया करना कोई अस्वाभाविक घटना नहीं था। हद तो तब हो गई जब कोई माकूल बहाना न पाकर साम्राज्यवादी भावना के वशीभूत हो कंपनी सरकार ने कुशासन का आरोप लगाकर अत्यन्त अन्यायपूर्ण तथा शर्मनाक व्यवहार का प्रदर्शन करते हुए अवध को भी अपने साम्राज्य में मिला लिया। ऐसे में जन–अंसतोष की तीव्र वृद्धि कोई अस्वाभाविक घटना नहीं कही जा सकती फिर यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि बंगाल आर्मी, जिसने विद्रोह का श्रीगणेश किया था, में अधिकांश सैनिक अवध प्रांत से ही संबंधित थे।

अतः अवध को ब्रिटिश साम्राज्य में शामिल करने से इन सैनिकों में प्रतिक्रिया उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। इसका पता हमे उपन्यास 'पाहीघर' से भी चलता है, जब छावनी में भवानी प्रसाद, दुर्बली, सुमेर सिंह और कालीबकस आदि कंपनी के सैनिक अवध के भविष्य पर बात करते हैं। दुर्बली अपनी राय जाहिर करते हुए कहता है कि–

"बगांल सेना में अवध के इतने जवान भरे हैं। अवध पर कुछ हुआ, तो क्या वो चुपचाप बैठे रहेंगे।"[2]

2. भारत में अनेक वर्षों तक शासन के पश्चात भी अंग्रेज पूर्व के शासकों के विपरीत यहां की परम्पराओं–संस्कृतियों में घुलमिल नहीं पाए थे तथा अब भी उनके शासन की प्रकृति विदेशी ही बनी रही। इसका भारतीय जनमानस पर विपरीत प्रभाव पड़ा तथा भारतीय जनमानस उन्हें सदा विदेशी ही समझता रहा। यही कारण था कि सामान्य भारतीय जनता कंपनी सरकार द्वारा स्थापित संस्थाओं व अधिकारियों के साथ अपना संबंध नहीं जोड़ पाती थी कपंनी शासन द्वारा भूराजस्व व्यवस्था, न्याय व्यवस्था आदि में व्यापक परिवर्तन किया गया, जिसका भारतीय जनता के मनो–मस्तिष्क पर विपरीत असर पड़ा और भारतीय जनता अंग्रेजों के विरूद्ध होती चली गई। मौलाना अबुल कलाम आजाद ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए सही ही लिखा है कि–

> "दरअसल, हुआ यह कि सौ बरसों के दरमियान कपंनी के निजाम से हिन्दुस्तानी अवाम की एक दूरी बन गई थी और धीरे–धीरे उन्हें

---

[2] पाहीघर – कमलाकांत त्रिपाठी, पृ. 62

अहसास हो गया था कि एक विदेशी क़ौम ने मुल्क पर कब्ज़ा जमा लिया है। जैसे ही इस अहसास ने फैलाव हासिल कर लिया, बगावत के फूट पड़ने के हालात तैयार हो गए। ऐसा कुछ इंसानों के द्वारा रची गई साज़िश के तहत नहीं, बल्कि सारे अवाम की नाराजगी के नतीजे के तौर पर होना ही था।"[3]

3. अंग्रेजों की आर्थिक नीतियाँ भी 1857 के विद्रोह के लिए क़ाफी हद तक उत्तरदायी थीं। ईस्ट इण्डिया कंपनी के राजनीतिक शक्ति के प्रयोग से भारतीय हस्तशिल्प और व्यापार का सर्वनाश हो गया था और इसे केवल अंग्रेजी शोषण प्रणाली के परिशिष्ट के रूप में ही जीवित रहने दिया गया। कार्ल मार्क्स ने जो एक बहुत चतुर प्रेक्षक थे, 1853 में ही लिखा था कि– "यह अंग्रेज घुसपैठिया ही था जिसने भारतीय हथकरघे को और चरखे को तोड़ दिया है। इग्लैण्ड ने पहले यूरोप की मण्डियों से भारतीय कपड़े को निकाला तथा फिर बटा हुआ धागा भारत में लाया और फिर सूती कपड़े के देश में भी मानो सूती कपड़े की बाढ़ सी आ गई हो।"[4]

वास्तव में ब्रिटिश भू–राजस्व नीति, व्यापार नीति तथा कृषि के व्यावसायीकरण नीति का परिणाम यह हुआ कि भारत में ग्रामीण बेरोजगारी, गरीबी तथा ऋणग्रस्तता में वृद्धि हुई। अंग्रेजी शासन के लिए स्वहित प्रथम था तथा उन्हें यहाँ की प्रजा की खुशहाली से कोई लगाव नहीं था। उन्होंने क्रमबद्ध तरीके से जिस प्रकार से भारतीय उद्योगों व शिल्प का विनाश किया, उससे ब्रिटिश आर्थिक नीति में छिपे उनके स्वार्थ

---

[3] नया पथ : 1857 पर विशेषांक, पृ. 7

[4] आधुनिक भारत का इतिहास – यशपाल ग्रोवर, पृ. 488

को समझा जा सकता है। अंग्रेजी शोषणपूर्ण नीति को स्पष्ट करते हुए डॉ0 भगवान दास माहौर ने अपनी पुस्तक में उचित ही कहा है–

> "जनता की सांस्कृतिक और धार्मिक भावनाओं को तो उसने दुखाया ही,उसने श्रमिक जनता का अभूतपूर्व आर्थिक उत्पीड़न किया। उसकी करनीति से किसान तबाह हो गए। उसने तो मानों लूट की पाइपलाइन ही बिछा डाली जिससे प्रजा का धन निरन्तर विदेश की ओर प्रवाहित होने लगा सम्पत्ति का स्रोत ही दिन–दिन क्षीण होने लगा। श्रमिक प्रजा की वृत्ति सामन्ती राजा के प्रति 'कोउ नृप होउ हमैं का हानी' वाली हो सकती थी, परन्तु अंग्रेजी राज के प्रति वैसी वृत्ति नहीं हो सकती थी क्योंकि अंग्रेजी राज में उसका उत्पीड़न परिमाण में भी और गुण में भी, सामान्य सामन्ती उत्पीड़न से कई गुना अधिक और असह्य हुआ उसकी 'रोजी रोटी' का साधन ही उससे छिन गया।"[5]

देखा जाए तो अंग्रेजी शासन से भारत का कोई तबका खुश नहीं था। अमृत लाल नागर ने 'गदर के फूल' में इस ओर स्पष्ट इशारा किया है कि अंग्रेजों की सत्ता स्थापित होते ही तरह–तरह के करों की भरमार हो गई। खाने–पीने की चीज़ों के दाम तो बढ़े ही, नवाबी लखनऊ को अफीम के दाम चढ़ जाना बेहद खला। 19वीं सदी के सबसे बड़े कवि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी अपनी कविताओं तथा नाटकों में अंग्रेजों द्वारा तरह–तरह के टैक्स लगाने और बढ़ानें की चर्चा की है। इन सबके अलावा अफसरों ने जनता से कर वसूलने में भी बेरहमी का प्रदर्शन किया। उन लोगों

---

[5] 1857 के स्वाधीनता संग्राम का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव – डॉ. भगवान दास माहौर, पृ. 13

से भी डण्डे के बल पर पैसा वसूल किया गया जिनके पास खाने को कुछ भी नहीं था। एक कलक्टर ने कई बार सरकार को लिखा कि वह अपने इलाके से वसूली नहीं कर सकता, क्योंकि वहाँ सिवाय घास के और कोई फसल नहीं हुई है। सरकार का निर्देश आया– "घास अच्छी चीज हैं, इसी को बिकवाकर टैक्स वसूलिए।"

यहाँ ध्यान रखने की बात है कि सिर्फ गरीब किसान ही परेशान नहीं थे, सामंत भी अंग्रेजी साम्राज्यवाद के शोषण तथा अत्याचार से बुरी तरह पीड़ित थे। विद्रोह के मुख्य केन्द्र अवध में तालुकेदारों के सारे अधिकार छीन लिए गए। लगभग 21 हजार तालुकेदारों की जागीर छीन ली गई। इन तालुकेदारों के पास आय का कोई साधन नहीं बचा, मजबूरन इन्होंने भी सिपाहियों के विद्रोह का समर्थन किया।

4. औपनिवेशिक सरकार के द्वारा सामाजिक–सांस्कृतिक मामले में सक्रिय हस्तक्षेप किया गया। सती प्रथा उन्मूलन तथा विधवा पुर्नविवाह जैसी कुरीतियों को समाप्त करने के लिए विधि–निर्माण किया गया। आगे चलकर, 1950 में जाति नियोग्यता उन्मूलन कानून बनाया गया, जिसके अनुसार पुत्र के द्वारा धर्म परिवर्तन के बावजूद पिता उसे अपनी सम्पत्ति से वंचित नहीं कर सकता था। अंग्रेजों के इन सुधारों को भारतीयों ने अपने व्यक्तिगत जीवन तथा संस्कृति में अनावश्यक हस्तक्षेप समझा, अतः उनमे असंतोष की भावना उपजी। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य कारकों तथा घटनाओं ने भी भारतीयों के असंतोष को अभिव्यक्ति प्रदान की। उनमें से एक कारक था– हिन्दू सैनिकों को समुद्रयात्रा के लिए विवश किया जाना। हिन्दुओं के लिए तब समुद्रपार करने का मतलब था अपना धर्म भ्रष्ट करना, इस कारक पर प्रो. विपिन चन्द्र ने अत्यन्त सटीक टिप्पणी की है–

"गाँव–घर के लोगों में यह भावना पैठ गई कि सिपाही धार्मिक मान्यताओं का पालन नहीं कर सकते। इसलिए युद्ध के बाद सिपाहियों के घर लौटने पर बिरादरी में वापस लौटना उनके लिए मुश्किल हो गया।"[6]

इस संबंध में अवध क्षेत्र से संबंधित सूबेदार सीताराम का उदाहरण लिया ज़ा सकता हैं जिनकी आत्मकथा का सकंलन 'रामकहानी सीताराम' नाम से मधुकर उपाध्याय ने किया हैं। सीताराम पाण्डेय 1857 की घटनाओं और उस समय की सोच को पागलपन की बयार' कहते हैं। सीताराम नाम का यह सिपाही जब अफगानिस्तान से लौटा तो न सिर्फ उसे अपने गाँव, बल्कि अपनी बैरक में भी 'ज़ात–बाहर' घोषित कर दिया गया। इस तरह कंपनी की नौकरी में होने की 'इज्जत' उसे समाज में जगह नहीं दिला सकी। धर्म और जाति कहीं ज्यादा ताकतवर साबित हुई।

जन–असंतोष को व्यापक फलक पर लाने का कार्य ईसाई मिशनरियों ने भी किया। जन–असंतोष की अभिव्यक्ति का यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कारक था। वास्तव में शारीरिक तथा राजनैतिक अन्याय सहन करना कई बार सभंव हो सकता है, परन्तु धार्मिक उत्पीड़न सहना बहुत कष्टकर होता है। भारतीयों के सन्दर्भ में तो यह बात और भी लागू होती हैं, क्योंकि यहाँ के लोगों के राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन में भी धर्म की प्रभावी भूमिका होती है। 1813 के एक्ट के पश्चात अब ईसाई मिशनरियों को भारत में धर्म प्रचार की खुली छूट मिल गई थी। वास्तव में अंग्रेज़ों का एक उद्देश्य भारतीयों को ईसाई बनाना भी था। अंग्रेजों का यह छिपा उद्देश्य तब

---

[6] भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष – विपिन चन्द्र, पृ. 4

प्रकट हो जाता है, जब कंपनी के अध्यक्ष मैगंल्ज ने हाउस –आंफ कामन्स के समक्ष भाषण देते हुए कहा था– "दैवयोग से भारत का विस्तृत साम्राज्य ब्रिटिश को मिला है ताकि ईसाई धर्म की पताका भारत के इस छोर से दूसरे छोर तक फहरा सके। प्रत्येक व्यक्ति को शीघ्रातिशीघ्र समस्त भारतीयों को ईसाई बनाने के महान कार्य को पूर्णतया सम्पन्न करने में अपनी समस्त शक्ति लगा देनी चाहिए। "वीर सावरकर ने भी एक जगह स्पष्ट लिखा है कि असैनिक और सैनिक ऊँचे पदाधिकारी 'राम' और मुहम्मद को गालियाँ देते थे तथा सैनिकों को ईसाई बनने की प्रेरणा, प्रोत्साहन व लालच देते थे।

5. सैनिक असंतोष भी 1857 के विद्रोह का प्रमुख कारण था। ज्ञातव्य है कि विद्रोह का प्रारम्भ कंपनी की देशी सिपाहियों से ही हुआ। इस संबंध में मार्क्स ने उचित ही कहा है–

"भारतीय विद्रोह का आरम्भ अंग्रेजों द्वारा पीड़ित, अपमानित तथा नंगी बना दी गई रैयत ने नहीं किया, बल्कि उनके द्वारा खिलाये–पिलाये, वस्त्र पहनाए दुलराये, मोटे किए और बिगाड़े गए सिपाहियों ने ही किया है।"[7]

ज्ञातव्य है कि इसी आधार पर मार्क्स 1857 की भारतीय क्रांति को 1789 की फ्रांसीसी क्रांति से अलग करके देखता है क्योंकि भारतीय सिपाहियों के व किसानों के विपरीत फ्रांसीसी क्रांति के अर्न्तगत पहला वार किसानों ने नहीं अपितु वहाँ के अभिजात्य वर्ग ने किया था।

---

[7] मार्क्स और एंगेल्स : भारत का प्रथम स्वाधीनता संग्राम, पृ. 48

कंपनी द्वारा प्रदत्त खराब सेवा–शर्तों के चलते सैनिक असंतुष्ट थें भारतीय सिपाहियों का वेतन अंग्रेज सैनिकों से लगभग तीन गुना कम था तथा जिदंगी नारकीय थी। पैदल सेना के सिपाही को सात रूपये मिलते थे और घुड़सवार सेना के सिपाही को 27 रूपये। लेकिन इसी में से उसे अपनी वर्दी, भोज़न इत्यादि पर भी खर्च करना पड़ता था। समूचे खर्चे के बाद उसके पास बहुत थोड़ा ही बच पाता था। इसके अतिरिक्त, हर समय उसे यह महसूस होता था कि काले–गोरे का भेद किया जा रहा हैं। पदोन्नति ओर अधिकार दोनो मामले में उसके साथ भेदभाव बरता जाता था। टी.आर. होम्स ने एक जगह लिखा था कि– "सिपाही जानता था कि वह चाहे जितनी कर्तव्यनिष्ठा दिखाए, चाहे जितना बहादुर सैनिक बन जाए, उसे अंग्रेज सैनिक के बराबर वेतन कभी नहीं मिलेगा। तीस वर्ष की कर्तव्यनिष्ठ सेवा भी उसे अंग्रेज अफसर का मातहत होने से बचा नहीं सकेगी।' सिपाहियों के साथ गोरे आए–दिन दुर्व्यवहार भी करते रहते थे, जिसके चलते भारतीय सैनिकों के मन में ब्रिटिश लोगों के प्रति नफरत व आक्रोश की भावना घर करने लगी थी। उपन्यास 'पाहीघर' में भी गोरों के दुर्व्यवहार को लेकर क्षोभ व्यक्त किया गया है, जब कालीबकस भवानी प्रसाद से कहता है–

"अब तो यह हाल है पण्डित जी कि जो अंग्रेज लौण्डे आ रहे हैं वो लगता है कि विलायत से ही हमारे लिए गालियाँ सीखकर आते हैं पहुँचते ही डंकी सूअर, निग्गर पुकारना शुरू कर देते हैं।"[8]

---

[8] पाहीघर – पृ. 62

स्वाभाविक था कि इन सब घटनाओं तथा कार्यों के चलते भारतीय सैनिकों में आक्रोश तो था ही, बस एक चिगांरी की आवश्यकता रह गई थी। अंत में चरबी वाले कारतूस ने उस चिगांरी का कार्य कर दिया, जिसके चलते विद्रोह आरम्भ हो गया।

ग- विद्रोह की प्रकृति अथवा स्वरूप

1857 के विद्रोह के स्वरूप पर काफी कुछ लिखा गया है और आज भी लिखा जा रहा है। इतिहासकारों तथा विद्वानों के बीच यह तीव्र मतभेद का विषय रहा है। यही करण है कि एक तरफ टी.आर. होम्स, सर जेम्स आउट्रम, डब्ल्यू.टेलर, एल. रीज, मालेसन आदि अंग्रेज इतिहासकारों तथा सर सैय्यद अहमद खाँ आदि कतिपय भारतीय विद्वानों ने इसे मात्र सिपाही विद्रोह ही माना है। इसके उलट विद्वानों का एक बड़ा समूह इस विद्रोह को राष्ट्रीय विद्रोह, जनक्रांति तथा स्वतन्त्रता संघर्ष के रूप में देखता है। ऐसे विद्वानों में डिजरायली मार्क्स, वीर सावरकर, अशोक मेहता, मौलाना आजाद, एस.एन.सेन तथा राम विलास शर्मा आदि प्रमुख हैं। ऐसे में 1857 के विद्रोह के स्वरूप अथवा प्रकृति का निर्धारण करना अत्यन्त जटिल हो जाता है। संक्षेप में, विद्रोह के स्वरूप पर हम निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत विचार कर सकते हैं–

1. 1857 का विद्रोह एक सिपाही विद्रोह था

1857 के विद्रोह के कारणों की व्याख्या करते हुए साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने इसे प्रशासनिक त्रुटियों का परिणाम कहा है; जिसके कारण सैनिक विद्रोह हो गए। सर जॉन सीले ने एक जगह कहा है कि 1857 का विद्रोह एक पूर्णतया देशभक्त रहित और स्वार्थी सैनिक विद्रोह था, जिसमें न कोई स्थानीय नेतृत्व ही था और न ही इसे सर्वसाधारण का समर्थन प्राप्त था। इस प्रकार इस दृष्टिकोण ने विद्रोह की

महत्ता को कम करते हुए इसे सिपाही विद्रोह कहा है। परन्तु ध्यान से देखने पर यह दृष्टिकोण सतही तथा एकांगी प्रतीत होता है।

आधुनिक इतिहासकारों ने अपने शोधों में यह दिखाया है कि जिन सिपाहियों ने विद्रोह किया था, वे मात्र सिपाही नहीं थे, रूद्रांश मुखर्जी ने इन्हें 'वर्दी में किसान' की संज्ञा दी है। अपनी पुस्तक 'अवध इन रिवोल्ट' में प्रसिद्ध सबाल्टर्न इतिहासकार ज्ञान पाण्डेय ने स्पष्ट किया है कि प्रत्येक किसान परिवार का एक व्यक्ति सेना में था। स्वाभाविक रूप से कृषि जगत में जो कुछ परिघटित हो रहा था, सिपाही उससे अछूता नहीं था, अपितु जिस प्रकार से आर्थिक और राजनैतिक परिवर्तनों को उपनिवेशवाद प्रयोजित कर रहा था, सिपाही उससे काफी हद तक प्रभावित था। अतः 1857 के विद्रोह को मात्र सिपाही विद्रोह की संज्ञा देना इतिहास का सतही विश्लेषण होगा। इस विद्रोह में हम सिपाहियों के साथ–साथ कृषक, मजदूर, शिल्पी, हिन्दू तथा मुसलमान, देशी रियासतों के शासकों आदि सभी की महती भूमिका देखते हैं।

इन कृषक क्षेत्रों में उत्पन्न समस्याओं के विरूद्ध अकेले अवध के सैनिकों ने 15 हजार अर्जियाँ दी। यदि इस विप्लव में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से शहीद हुए व्यक्तियों को देखें, तो हताहतों में दो लाख की संख्या तो केवल किसानों की ही थी। कर्नल नील, जिसने विसेन्ट आयर के साथ जगदीशपुर (आरा) का दमन किया था; उसको दानापुर से बनारस तक के अभियान में कदम–कदम पर कृषकों तथा शिल्पियों के स्वतः स्फूर्त विद्रोहों का सामना करना पड़ा।

अतः इसे मात्र सिपाही विद्रोह कहना, 57 के विद्रोह को कमतर करना होगा। सिपाहियों के अतिरिक्त किसान, शिल्पी, जमींदार सभी ने सामर्थ्यानुसार इसमें भागीदारी दर्ज करायी।

2. विद्रोह एक पश्चगामी सामंतीय प्रतिक्रिया थी

कुछ इतिहासकार इसे पश्चगामी सामंतीय प्रतिक्रिया मानते हैं और यह उल्लेख करते हैं कि टूट रही सामंती शक्तियों द्वारा पुरातन की स्थापना का यह अंतिम प्रयास था। पं. जवाहर लाल नेहरू ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि–

> "यह केवल एक सैनिक विद्रोह से कहीं अधिक बड़ी चीज थी। उसने बड़ी तेजी से एक बड़े विद्रोह का रूप ले लिया और यह हिन्दुस्तानी स्वतन्त्रता की लड़ाई बन गई। साधारण जनता के सार्वजनिक विद्रोह के रूप में यह लड़ाई दिल्ली, उ.प्र., बिहार और मध्य हिन्दुस्तान के कुछ हिस्सों तक ही सीमित थी। मुख्यतः यह एक सामतंवादी विद्रोह था, जिसके अगुआ सामंत सरदार या उनके साथी थे और जिसमें विदेशी विरोधी व्यापक भावनाओं से सहायता मिली।"[9]

यह मानना गलत नहीं है कि विद्रोह बगांल रेजीमेन्ट के द्वारा प्रारम्भ किया गया तथा– इसका नेतृत्व परम्परागत जमींदार या शासकों ने (पश्चगामी शक्तियों) किया। शायद वे कपंनी के शासन को उखाड़कर पुरातन व्यवस्था को स्थापित करना चाहते थे। इसी संदर्भ में उल्लेखनीय है कि इन शक्तियों के पास न तो भविष्य का

---

[9] हिन्दुस्तान की कहानी (संक्षिप्त) – जवाहर लाल नेहरू, पृ. 229

कोई सुगठित कार्यक्रम था और न ही ब्रिटिश संरचनात्मक श्रेष्ठता का कोई विकल्प। साथ ही इन्हें औपनिवेशिक दर्शन का सुसंगठित ज्ञान भी नहीं था। अतः विद्रोह को पश्चगामी सामंतीय प्रतिक्रया कहा गया है।

परन्तु यह विश्लेषण अनैतिहासिक तथा सतही प्रतीत होता है। वास्तव में पश्चमुखी शक्तियों ने आन्दोलन में अपनी भागीदारी तब आरम्भ की, जब विद्रोह न सिर्फ प्रारम्भ हो चुका था अपितु यत्र–यत्र फैलकर चरम पर पहुँच चुका था। सिपाहियों ने 11 मई को लाल किले में प्रवेश किया और बहादुरशाह जफर को बादशाह घोषित कर मुगल सम्प्रभुता के चिन्हों को पुनः स्थापित करने का प्रयास किया। इस घटना के बाद ही हम पश्चगामी शक्तियों को इस आन्दोलन में सहभागिता करते हुए देखते हैं। किन्तु एक बार इस विद्रोह से जुड़ने के बाद प्रत्येक प्रतिगामी शक्ति ने इस विद्रोह में अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। अब कहीं न कहीं अंतिम एक उद्देश्य प्रति–औपनिवेशिक बन गया।

इसके अतिरिक्त, यदि जनता की भूमिका का विश्लेषण किया जाए तो हम पाते हैं कि कई बार इन शक्तियों के नेतृत्व न करने के बावजूद उन्होंने विरोध जारी रखा। इसलिए जनता की स्वतन्त्र भूमिका का भी विद्रोह के संबंध में मूल्यांकन होना चाहिए। साथ ही हम यह भी कह सकते हैं कि तमाम सीमाओं के बावजूद पुरातन की स्थापना ही इन शक्तियों के पास अंतिम विकल्प नहीं था। चूंकि पूर्व का समाज तुलनात्मक रूप से वर्तमान से कहीं अधिक संतुलित था; अतः नए की स्थापना का उद्देश्य जितना–अग्रगामी है, पुरातन को बचाना उससे कम नहीं।

अतः हम कह सकते हैं कि चूंकि ये समस्त शक्तियाँ एक साथ मिलकर विदेशी शासन द्वारा छिन्न–भिन्न किए जा रहे समाज को बचाना चाह रही थीं अतः इनकी कार्यवाही देशभक्तिपूर्ण थी। परन्तु समग्र रूप में यह पश्चगामी सामंतीय प्रतिक्रिया मात्र नहीं थी।

3. 1857 का विद्रोह धर्मान्ध मुसलमानों की प्रतिक्रिया थी

कुछ साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि 1857 का विद्रोह वस्तुतः धर्मान्ध मुसलमानों की प्रतिक्रिया थी हिन्दुओं की आड़ लेकर मुस्लिम षडयंत्रकारियों ने जनता को भड़का दिया।

परन्तु ध्यातव्य है कि अभी तक ऐसा कोई भी साक्ष्य नहीं प्राप्त हुआ है। ज्ञातव्य है कि सभी मुसलमान विद्रोही नहीं थे अपितु देखा जाए तो विद्रोह में मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दुओं की संख्या अधिक थी। यह भी महत्वपूर्ण है कि भारत की जनता नितान्त धार्मिक तथा साम्प्रदायिक कभी नहीं थी; 1857 के विद्रोह ने इसे सिद्ध कर दिया। पाहीघर उपन्यास जो 1857 के विद्रोह को सम्पूर्णता में प्रकट करता है, में कमलाकांत त्रिपाठी ने शेख मुनव्वर अली के माध्यम से पाठक को जो संदेश दिया है, वह इकबाल साहब के 'मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना' की ही पूर्वध्वनि हे। शंकर से मुनव्वर अली एक स्थान पर सही ही कहता है कि–

> ".....उधर फिरंगी मुल्क हड़पने की ताक में बैठे हैं, इधर हम आपस में बिहाद छेड़ रहे हैं। फिरंगी यही तो चाहते थे कि कोई ऐसा बवाल हो कि कोई ऐसा बादशाह मजबूर होकर खुद–ब–खुद उनकी झोली में आ गिरे।"[10]

---

[10] पाहीघर – पृ. 85

वास्तव में यदि देखा जाए तो सही अर्थों में यह संघर्ष प्रति औपनिवेशिक था। बरेली से प्रकाशित बहादुरशाह के घोषणापत्र में कहा गया कि– 'हिन्दुस्तान के हिन्दू व मुसलमानों उठो! खुदा ने जितनी बरक्कतें इंसान को दी है, उनमें सबसे बड़ी–बरक्कत आजादी है।' हम देखते हैं कि हिन्दू–मुसलमान सभी ने बहादुरशाह को सम्राट माना। सारे सिपाहियों का लक्ष्य दिल्ली पहुँचना होता था। समन्वित विद्रोह का इससे और बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है कि जहाँ कहीं भी विद्रोह सफल हुआ; दोनों धर्मों के लोगों ने एक दूसरे की भावनाओं का आदर किया। गोहत्या पर प्रतिबंध, नेतृत्व व प्रशासन में हिन्दू व मुसलमानों का समान प्रतिनिधित्व इसके प्रतीक हैं। अवध के वजीर अली नकी खाँ के आहवान पर हिन्दू व मुसलमानों ने गंगा व कुरान की शपथ खाकर प्रतिज्ञा की थी कि अंग्रेजों को देश से बाहर करने के लिए वे जान की बाजी लगा देंगे। बिरजिस कादिर के प्रशासन में जहाँ दोनों धर्मों के लोगों की नियुक्ति की गई, वहीं पेशवा का विश्वस्त सहयोगी अजीमुल्ला नामक व्यक्ति एक मुसलमान था। अपने तमाम कुत्सित प्रयासों के बावजूद अंग्रेज दोनों धर्मों के बीच फूट डालने में असमर्थ रहें फिर, यह महज संयोग नहीं था कि कैनिंग द्वारा 50 हजार का इनाम रखने पर भी कोई हिन्दू खान बहादुर का सुराग देने को तैयार नहीं हुआ।

अतः साम्राज्यवादी इतिहासकारों की यह धारणा पूर्णतया खण्डित हो जाती है।

4. 1857 का विद्रोह राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम के रूप में

डिजरायली, सावरकर आदि कई विद्वानों तथा इतिहासकारों ने 1857 के विद्रोह को प्रथम राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम कहा है। मार्क्स ने भी इसे राष्ट्रीय विद्रोह

की संज्ञा प्रदान की है। 14 अगस्त 1857 को न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून में छपे उनके लेख का हवाला देते हुए इरफान हबीब ने लिखा है कि–

"मार्क्स को यह यकीन हो गया कि भारत में हुआ सैनिक विद्रोह सिर्फ सिपाहियों तक ही सीमित नहीं था और यहाँ तक कि मुसलमानों की तरह सिख भी, ब्राह्मणों के साथ हाथ मिला रहे थे और इस तरह ब्रिटिश शासन के खिलाफ सभी अलग–अलग तबकों का एक साझा संगठन तेजी से आगे बढ़ रहा था।' अब उन्हें यह भरोसा हो चुका था कि धीरे–धीरे अन्य तथ्य भी निकलकर सामने आएंगे जो जान बुल तक को इसका यकीन दिला देंगे कि वह जिसे एक सैन्य बगावत मानता है, वास्तव में एक राष्ट्रीय विद्रोह है।"[11] मार्क्स से ही मिलते–जुलते विचार हिन्दी के महान आलोचक राम विलास शर्मा के भी हैं जो 1857 के विद्रोह को जनक्रान्ति की संज्ञा देते हैं। विद्रोह के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए डॉ. शर्मा एक जगह लिखते हैं कि–

"सन सन्तावन का संघर्ष एक महान जनक्रान्ति थी। जनक्रान्ति इसलिए था कि उसमें जनता ने सक्रिय रूप से भाग लिया था.... यह संघर्ष जनक्रान्ति इसलिए था कि सारा युद्ध जनता को आधार बनाकर चला था। यह जनता से अलग फौज की लड़ाई न थी।"[12]

अशोक मेहता ने अपनी पुस्तक 'दि ग्रेट रिबेलियन' में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 1857 के विद्रोह का स्वरूप राष्ट्रीय था। मौलाना आजाद ने भी कहा है कि सन् सत्तावन का विद्रोह जातीय तथा राष्ट्रीय था, परन्तु धार्मिक नहीं

---

[11] अनभै साँचा : 1857 पर विशेष, पृ. 12

[12] 1857 : निरंतरता और परिवर्तन (उद्‌भावना), पृ. 334

हिन्दू व मुसलमान एकजुट होकर लड़े। इसी प्रकार, डॉ. एस.एन.सेन (1857) का मत है कि (इन्हें भारत सरकार ने 1857 के विद्रोह के 100 वर्ष पूरा होने पर सरकारी इतिहासकार नियुक्त किया था।) यह स्वतन्त्रता संग्राम ही था। उनका तर्क था कि क्रान्तियाँ प्रायः एक छोटे से वर्ग का कार्य करती है, जिसमें जनता का समर्थन होता भी है और नहीं भी होता। डॉ. सेन के अनुसार यदि "एक विद्रोह जिसमें बहुत से लोग सम्मिलित हो जाएं तो उसका स्वरूप राष्ट्रीय हो जाता है। दुर्भाग्य से भारत में अधिकतर लोग निष्पक्ष और तटस्थ रहे। इसलिए 1857 के विद्रोह को राष्ट्रीय कहना ठीक नहीं है।

ऐसी मान्यता है कि 1857 में भारतीयों ने प्रथम बार औपनिवेशिक सत्ता के विरूद्ध समग्र प्रतिरोध का उदाहरण प्रस्तुत किया तथा समानान्तर रूप से एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की। दिल्ली की ओर सभी विद्रोहियों की कूच और बहादुरशाह को सम्राट घोषित करना; इसे प्रथम राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम का दर्जा देता है। साथ ही वे यह भी मानते हैं कि केवल चरबी लगे कारतूस विद्रोह का कारण नहीं थे अपितु वास्तविकता यह थी कि एक सुनियोजित रणनीति के तरह सभी वर्गों के लोगों ने विद्रोही सैनिकों के साथ मिलकर पहली बार देश को स्वतन्त्र कराने का प्रयास किया।

परन्तु हम इसे असानी से प्रथम राष्ट्रीय स्वतन्त्रता सग्रांम नहीं कह सकते। वास्तव में 1857 का विद्रोह किसी राष्ट्रीय चेतना का परिणाम नही था। आधुनिक इतिहासकारों का भी मत है कि इस विद्रोह के पूर्व तक भारत में राष्ट्रीय चेतना अनुपस्थित थी तथा इटली की भाँति भारत भौगोलिक इकाई मात्र था। भारत के लोग

अपनी पहचान क्षेत्रीय संदर्भों में ही करते थे। राष्ट्रीयता इसलिए नहीं थी क्योंकि इस विद्रोह से मध्यवर्ग नहीं जुड़ा था, जबकि मध्यवर्ग ही राष्ट्रीयता का वाहक होता है। नेतृत्वकर्त्ता अपने स्वार्थों के लिए लड़ रहे थे। इसके अतिरिक्त, इस विद्रोह की शुरूआत सिपाही विद्रोह के रूप में हुई तथा तीन रेजीमेंटों में केवल बंगाल रेजीमेन्ट द्वारा ही विद्रोह किया गया। बगांल रेजीमेन्ट के भी सभी सैनिकों ने विद्रोह में आग नहीं लिया। इसी प्रकार, क्षेत्रीय विस्तार की दृष्टि से भी इसे राष्ट्रीय विद्रोह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पंजाब व द. भारत का एक बड़ा हिस्सा विद्रोह से अछूता रहा था। इसके अलावा, विद्रोह के दौरान विभिन्न क्षेत्रों की घटनाएं और प्रवृत्तियाँ यह बताती हैं कि भिन्न–भिन्न क्षेत्रों में भिन्न–भिन्न प्रवृत्तियाँ थी। कुछ क्षेत्रों में स्थानीय संघर्ष के मुद्दे उभर रहे थे, कुछ क्षेत्रों में स्थानीय जमींदारी के मुद्दे उभर रहे थे। जबकि कुछ क्षेत्रों में दोनों पक्षों के बीच प्रहार के भी साक्ष्य प्राप्त होते हैं। इस प्रकार की घटनाएं और प्रवृत्तियाँ स्वतन्त्रता संघर्ष के विचार पर एक प्रश्नचिन्ह लगाते हैं। इसी तरह विद्रोह को प्रथम भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसके पहले भी नागरिक विद्रोह हुए थे और यह उसी की कड़ी थी।

5. यह विद्रोह किसान विद्रोह था

बहुत से इतिहासकारों ने इसे किसान विद्रोह कहा है। यह उल्लेखनीय है कि प्राक् पूँजीवादी समाजों की भाँति भारत में भी किसान अधिक थे और उन्होंने विद्रोहों में महती भूमिका निभाई। नए राजस्व बंदोबस्तों ने ही इस विद्रोह में बड़ी भूमिका निभाई थी। ज्ञातव्य है कि स्थायी बन्दोबस्त, महालवाड़ी बन्दोबस्त तथा रैय्यतवाड़ी बन्दोबस्त से किसानों का काफी शोषण हुआ और उनकी कठिनाइयों में वृद्धि हुई,

जिससे किसान कपंनी सरकार के विरूद्ध संघर्ष करने को मजबूर हो चले थे। ध्यान रखने की बात है कि कृषि समस्याओं के संदर्भ में ही सैनिकों द्वारा 15 हजार अर्जियाँ दी गई थी। चूंकि समस्यायें सर्वाधिक अवध में उत्पन्न हुई थी, इसलिए अवध के किसानों ने इसमे सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। बगांल रेजीमेन्ट के अधिकांश सैनिक अवध के किसान परिवार से ही संबंधित थे। अतः कृषकों का शोषण स्वाभाविक रूप से बगांल रेजीमेन्ट के सैनिकों को उद्वेलित कर रहा था। रूद्रांश मुखर्जी ने इन सैनिकों को सही ही वर्दी में किसान की संज्ञा प्रदान की है। विद्रोह में लगभग 2 लाख किसानों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा।

गौरतलब है कि किसानों की भूमिका मात्र पिछलग्गू की नहीं थी। कुछ स्थानों पर ताल्लुकेदारों के साथ न देने पर भी किसानों ने स्वतन्त्र निर्णय लिए। अतः विद्रोह को किसान विद्रोह कहना गलत नहीं है। परन्तु इसे वर्ग–संघर्ष नहीं कहा जा सकता क्योंकि किसान उन ताल्लुकेदारों के साथ थे, जिन्हें भूमि से हाथ धोना पड़ा था। वास्तव में यह विद्रोह कंपनी के विरूद्ध था, न कि जमींदारों के विरूद्ध। इस प्रकार यह विद्रोह वास्तव में किसान विद्रोह ही था, जिसे अवध से जोड़कर हम निम्न शीर्षक के माध्यम से अच्छी तरह समझ सकते हैं।

6. 1857 का विप्लव अवध का व्रिद्रोह था

विद्रोह में व्यापक भागीदारी की दृष्टि से देखा जाए तो 1857 के विद्रोह को अवध का विद्रोह कहना अतिश्योक्ति न होगा वास्तव में विद्रोह की शुरूआत जिस बंगाल रेजीमेंट के द्वारा की गई, उसके अधिकांश सिपाही और सवार अवध से जुड़े हुए थे। यही नहीं, बाद में भाग लेने वाले कुल सैनिकों में अधिकांश हिस्सा इसी

सूबा–ए–अवध से संबंधित था। पाहीघर उपन्यास में इसे आसानी से देखा जा सकता है क्योंकि उपन्यास के प्रमुख पात्रों भवानी प्रसाद, दुर्बली, कालीबकस, सुमेर सिंह आदि बगांल रेजीमेन्ट के सिपाहियों का संबंध इसी अवध सूबे से ही था। इन सैनिकों के विद्रोह का एकमात्र कारण सेवा शर्तें व धार्मिक आग्रहों पर प्रहार ही नहीं था, अपितु ये अवध क्षेत्र में कंपनी प्रशासन द्वारा किए जा रहे 'आर्थिक–सामाजिक' परिवर्तनों से गहनता से प्रभावित थे। अवध के लगभग प्रत्येक घर से एक व्यक्ति सेना में था। 1856 में यहाँ संक्षिप्त बन्दोबस्त लागू किया गया। अवध के भूमि बन्दोबस्तों के कारण ताल्लुकेदारों व जमींदारों की परम्परागत जमींदारियाँ नीलाम हो गई। नए महाजनों द्वारा प्राप्त की गई भूमि पर खेती करने वाले किसानों का शोषण बढ़ा इससे जमींदार, कृषक तथा इन पर निर्भर अन्य उपाश्रित वर्ग धीरे–धीरे कपंनी शासन के विरोधी हो गए। स्वाभाविक था कि इसका सीधा असर सेना पर भी पड़ा और अवध के वर्दीधारी किसानों के द्वारा ही विद्रोह का सूत्रपात कर दिया गया।

समानान्तर कुशासन के आरोप में अवध की सत्ता हस्तगत कर ली गई। वहाँ के दरबार में काम करने वाले अन्य सैनिक तथा शासन पर आश्रित लोग बेरोजगार हो गए। चूंकि अवध की जनता की सहानुभूति नवाब के साथ थी, अतः सभी लोग विद्रोही हो गए और तब यह महज संयोग नहीं था कि दिल्ली के बाद लखनऊ और फैजाबाद का क्षेत्र विद्रोह का दूसरा प्रमुख गढ़ साबित हुआ।

ज्ञातव्य है कि अवध के भूमि बंदोबस्तों के विरोध में एक ओर सैनिकों ने 15 हजार अर्जियाँ प्रस्तुत की थी, वहीं दूसरी ओर मरने वालों में दो लाख किसानों की संख्या भी शामिल थी। अतः 1857 का विद्रोह अवध के विद्रोह का दूसरा रूप था।

लेकिन यदि अवध के विद्रोह का आशय इसके क्षेत्रीय स्वरूप को आगे रखना तथा विद्रोह की राष्ट्रीय महत्ता को कमतर करके आँकना है, तो यह उचित नहीं है क्योंकि अंततः विद्रोहियों के बीच उपनिवेशवाद के विरूद्ध एक भावनात्मक लगाव था। वे दिल्ली की ओर देख रहे थे तथा समान शत्रु से निबटने के लिए हितों की सहभागिता के आधार पर परस्पर जुड़े हुए थे।

संक्षेप में, नकारात्मक नहीं अपितु सकारात्मक अर्थों में 1857 के विद्रोह को अवध का विद्रोह कहा जा सकता है।

विभिन्न क्षेत्रों में हुई क्रांतिकारी घटनाएं

1857 का विद्रोह भारतीय इतिहास की एक व्यापक परिघटना थी। यद्यपि इसका कार्यक्षेत्र मुख्यतः उत्तर भारत ही था, लेकिन निश्चय ही विद्रोह की आँच राजपूताना, मराठा क्षेत्र तथा द. भारत में भी पहुँची थी। विद्रोह के पाँच प्रधान केन्द्र थे–बिठूर, दिल्ली, लखनऊ, कलकत्ता, सतारा। इसके अतिरिक्त अन्य भूभागों में भी इसका व्यापक प्रसार हुआ।

यद्यपि ब्रिटिश शोषणकारी नीतियों के चलते विद्रोह के लिए आवश्यक परिस्थितियों का निर्माण बहुत पहले से ही हो चुका था तथा क्षेत्रीय स्तर पर छिटपुट विद्रोही घटनायें हो चुकी थीं। परन्तु उसका स्वरूप क्षेत्रीय होने के कारण उन्हें आसानी से दबा दिया गया। 1857 के विद्रोह का वास्तविक प्रारम्भ चरबी वाले कारतूस की घटना को लेकर हुआ। फरवरी, 1857 में बहरामपुर की 19 वीं पलटन को कुछ नए ढंग के कारतूस दिए गए, पर फौज ने इसे लेने से इन्कार कर दिया। फौजियों ने विद्रोह तो नहीं किया परन्तु उनके रूप को देखते हुए अंग्रेज अफसर

उन्हें दण्डित करने के लिए उत्सुक हो गए। परन्तु अफसरों को यह भय था कि कहीं लेने के देने न पड़ जाएं, क्योंकि सबसे पास वाली गोरी फौज रगूंन में थी, इसलिए अंग्रेज अफसर सजा देने की इच्छा को कार्यरूप में परिणत न कर सके।

इस तरह सिपाहियों में आक्रोंश तो व्याप्त था ही मंगल पाण्डे वाली घटना ने इसमें आग में घी का काम किया और रही–सही कसर 9 मई की मेरठ वाली घटना ने पूरी कर दी, जब मेरठ की तीसरी देशी घुड़सवार पल्टन के 85 सिपाहियों को नए कारतूस दिए गए, पर उन्होंने इसे लेने से इन्कार कर दिया। इस पर उन्हें लम्बी–लम्बी सजाएं सुना दी गई। शाम को जब सिपाही बाहर घूमने निकले तो मेरठ की स्त्रियों ने उनको बहुत बुरा–भला कहा और शर्मिन्दा किया। इस पर रात में सिपाहियों की सभा हुई। जिसमे यह तय हुआ कि अब वे विद्रोह के लिए निर्धारित 31 मई तक नहीं ठहर सकते। 10 मई को विद्रोही सिपाहियों ने जेलों में जाकर अपने साथियों को छुड़ा लिया। पूरे मेरठ में मानो एक जोश की लहर फैल गई और जहाँ भी अंग्रेज मिले, लोग उन पर टूट पड़े, उनके बगंलों में आग लगा दी गई। मेरठ में फतह हासिल कर ये विद्रोही दिल्ली की ओर रवाना हो गए। दिल्ली में कर्नल रिपले को जैसे ही इस बात की खबर लगी वह 54 वीं हिन्दुस्तानी पल्टन को लेकर आगे बढ़ा, परन्तु बागी फौज के साथ भेंट होते ही दोनों फौजें मिल गई। अब लाल किले पर भी विद्रोहियों का कब्जा हो गया। दिल्ली में विद्रोहियों के आगमन और विजय का बहुत प्रामाणिक वर्णन 'हिन्दुस्तान' समाचार पत्र के एक लेख में बहुत सटीक ढंग से किया गया है–

"सुबह नौ बजे तक मेरठ के बागी सैनिक दिल्ली की भीड़भरी सड़कों और गलियों में दाखिल हो चुके थे। शाहजहाँ द्वारा बनवाया गया सपनों का शहर क्रांति का शहर बन चुका था।"[13]

विद्रोही दिल्ली फतह करने के बाद बहादुरशाह के पास गए, यद्यपि वह काफी कमजोर हो चुका था, परन्तु विद्रोही नेताओं ने उसकी सलामी ली और काफी ना नुकुर के पश्चात अंततः उसे बादशाह बनने के लिए राजी कर लिया (12 मई–1857)। ज्ञातव्य है कि विद्रोह के समय दिल्ली में हुई घटना का बेहद प्रामाणिक तथा व्यौरेवार वर्णन प्रत्यक्षदर्शी मोईनुद्दीन हसन ने किया है, जो विद्रोह के समय दिल्ली के पहाड़गंज इलाके का दरोगा था। मोइनुद्दीन हसन ने कुछ शर्तों के साथ चार्ल्स मेटकॉफ के आग्रह पर तत्कालीन घटना को संकलित किया था। हाल में मोईनुद्दीन हसन की आत्मकथा का अनुवाद 'गदर–1857: आँखों देखा विवरण' के नाम से हिन्दी में अब्दुल हक ने किया है। विद्रोह के समय दिल्ली तथा उसके आसपास की बहुत प्रामाणिक जानकारी इस पुस्तक से प्राप्त होती है।

ज्ञातव्य है कि 1857 के विद्रोह की तुलना इंग्लैण्ड और फ्रांस की क्रान्तियों से की गई है, परन्तु यह क्रान्ति इग्लैण्ड और फ्रांस की क्रान्तियों से इस मायने में अलग थी कि वहाँ क्रान्तिकारियों ने किसी रिपब्लिकन या राजवंश विरोधी को शासक बनाया, परन्तु भारत में नितान्त एशियाई तरीके, परन्तु गणराज्यीय भावना के तहत एक बादशाह को फिर से उसकी सत्ता सौंप दी गई। लेकिन यह सत्ता पहले जैसी सामंती नियमों पर आधारित नहीं थी, अपितु, जैसा कि– "हिन्दुस्तान' समाचार पत्र में एक जगह उल्लिखित है–

---

[13] 'हिन्दुस्तान' समाचार पत्र – 11 मई, 2007

"सैनिकों की वर्दी में आए किसानों ने, जब जफर का राजतिलक हो रहा था, तो उसी दीवाने खास में कई फायर किए, जैसे कि वे गाँव के किसी बारात में गए हों। जश्न के उस माहौल में जागीरदारों के साथ सैनिक उछल–कूद रहे थे। जबकि कुछ दिन पहले वही जागीरदार उनके अफसरों को पास नहीं फटकने देते थे।"[14]

विद्रोह सीघ्र ही समस्त उत्तरी और मध्य भारत में फैल गया। लखनऊ, इलाहाबाद, कानपुर, बरेली, बनारस, बिहार के कुछ भाग, झाँसी और कुछ अन्य प्रदेश, सभी में विद्रोह प्रारम्भ हो गया। अंग्रेजों को सौभाग्य से कई राजभक्त भारतीय शासकों–जमींदारों का सहयोग मिला, जिन्होंने विद्रोह के दमन में अह्म भूमिका निभाई।

चूंकि अंग्रेजों के लिए दिल्ली पर पुनः अधिकार मानसिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण था, अतः उन्होंने इस दिशा में प्रयास जारी रखा। पंजाब से सेनाएं दिल्ली की ओर बुलाई गई और उत्तर की ओर से आक्रमण किया गया। विद्रोही सैनिकों से हुए घोर युद्ध में अतंतः सितम्बर, 1857 में अंग्रेजों ने दिल्ली पर पुनः फतह हासिल की। यद्यपि इस घेरे के सेनानी जॉन निकलसन वीरगति को प्राप्त हुए। सम्राट को बंदी बना लिया गया और उसके दो पुत्रों व एक पोते को गोली से उड़ा दिया गया।

लखनऊ का विद्रोह 4 जून को आरम्भ हुआ। ज्ञातव्य है कि अवध के क्षेत्र में चले सबसे लम्बे ब्रिटिश विरोधी सशस्त्र संघर्ष का नेतृत्व बेगम हज़रत–महल तथा उनके सहयोगी ताल्लुकेदारों ने किया। ध्यान देने की बात है कि विद्रोह का नेतुत्व अवध में ताल्लुकेदारों ने किया और पूर्वी उत्तर प्रदेश के जिलों में बड़े और छोटे

---

[14] 'हिन्दुस्तान' समाचार पत्र – 11 मई, 2007

जमींदारों ने यह उत्तरदायित्व निभाया। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि तब तक इस क्षेत्र में आधुनिक अवधारणा के अनुरूप समाज में कोई मध्यवर्ग उदित नहीं हुआ था। अवध में विद्रोह दीर्घकालीन साबित हुआ। अंग्रेजों का तीव्र प्रतिरोध करने के लिए विद्रोहियों ने दिल्ली से हथियार और गोला–बारूद तैयार करने के लिए कारीगर बुलाये थे। इसके विशेषज्ञ एक ईसाई युद्धबन्दी की सेवाएं भी प्राप्त की गईं। दिलकुंशा में शीशे का भण्डार मिलने से गोलियों का बड़े पैमाने पर निर्माण किया गया। अंग्रेजों ने नवम्बर, 1857 में रेजीडेन्सी खाली करते समय जो हथियार विशेषकर तोपों के गोलों को कुओं में फेंक दिया था, उन्हें निकाला गया। इसी प्रकार, भारी हथियारों की मरम्मत के लिए फैजाबाद में एक वर्कशाप भी स्थापित की गई थी।

विद्रोहियों ने लखनऊ में अंग्रेजों का कड़ा मुकाबला किया। जिससे मजबूर होकर ब्रिटिश रेजीडेन्ट हेनरी लारेन्स ने यूरोपियों तथा 2000 राजभक्त भारतीय सिपाहियों की मदद से रेजीडेंसी में शरण ली। विद्रोहियों ने रेजीडेंसी को घेर लिया, जिसमें हेनरी लारेंस की मृत्यु हो गई। इसके पश्चात ब्रिगेडियर इंग्लिस, हेवॅलाक तथा आउट्रम ने भी लखनऊ को जीतने का असफल प्रयास किया। अंत में, नवम्बर 1857 में नए मुख्य सेनापति सर कॉलिन कैम्पबेल, जो इग्लैण्ड से भेजे गए थे, ने गोरखा रेज़ीमेन्ट की सहायता से लखनऊ पर पुनः कब्जा किया। यद्यपि सरायमीर के मनसब अली और अतरौलिया के कुर्मी राजा बेनी माधव बाद में भी अंग्रेजों से संघर्ष करते रहे; परन्तु 1858 के अंत तक अवध क्षेत्र में विद्रोही प्रायः शांत पड़ चुके थे।

कानपुर अंग्रेजों के हाथ से 5 जून, 1857 को निकल गया। नाना साहब को पेशवा घोषित कर दिया गया। छावनी के कमाण्डर हवीलर ने आत्मसमपर्ण कर

दिया। दुर्भाग्य से कुछ यूरोपीय पुरूष, बच्चों तथा महिलाओं की गंगा नदी पार करते समय हत्या कर दी गई, जो नाना साहब की वीरता पर एक धब्बे के समान इतिहास में दर्ज हो गया। यहाँ नाना साहब को तात्या तोपे की अभूतपूर्व सहायता प्राप्त हुई। कानपुर पर पुनः अधिकार का प्रयत्न लखनऊ पर पुनः अधिकार से बहुत निकट से संबंधित था। सर कैम्पबेल ने 6 दिसम्बर को कानपुर पर पुनः अधिकार कर लिया। तात्या टोपे भाग निकले और झाँसी की रानी से जा मिले।

जून 1857 के आरम्भ में सैनिकों ने झाँसी में भी विद्रोह कर दिया। कानपुर के पतन के पश्चात तात्या टोपे भी वहाँ पहुँच गए थे। सर हयूरोज ने 3 अप्रैल–1858 को झाँसी पर अधिकार कर लिया। अतः झाँसी की रानी तथा तात्या टोपे ने ग्वालियर की ओर प्रस्थान किया, जहाँ अंग्रेजों के राजभक्त सिंधिया को छोड़ उसकी सेना, रानी की सेना से आ मिली। सिंधिया ने आगरा में शरण ली। नाना साहब को पेशवा घोषित कर दिया गया। जून, 1858 में एक बार पुनः अंग्रेजों ने ग्वालियर पर अधिकार कर लिया। रानी वीरतापूर्वक अंत समय तक लड़ती रही और वीरगति को प्राप्त हुई। रानी की वीरता से अभिभूत हयूरोज ने रानी लक्ष्मीबाई को सन् सत्तावन के विद्रोहियों में अकेला मर्द बताया है। विष्णुभट्ट गोडशे बरसईकर कृत माझा–प्रवास, जिसका अनुवाद नागर जी ने 'आँखों देखा गदर' नाम से किया है, में रानी की वीरता का बड़ा सजीव वर्णन किया गया है। तात्या टोपे वहाँ तो बच निकले, परन्तु अतंतः 1859 में उन्हें सिंधिया के एक सामंत ने पकड़ कर अंग्रेजों को सौंप दिया और उन्हें फाँसी पर लटका दिया गया।

इन सबके अतिरिक्त बरेली में खान बहादुर खान ने स्वयं को नवाब नाज़िम घोषित कर दिया। बिहार में एक स्थानीय जमींदार जगदीशपुर के कुवँर सिंह ने

विद्रोह की पताका फहरा दी। बनारस में भी विद्रोह भड़का, जिसे कर्नल नील ने नृशंसतापूर्वक दबा दिया। इस प्रकार, जुलाई, 1858 तक विद्रोह पूर्णतया शांत हो चुका था।

यद्यपि यह सत्य है कि विद्रोह का मुख्य केन्द्र उत्तर भारत था, परन्तु द. भारत भी इससे अछूता नहीं रह गया था, अपितु क्रांति के प्रचारक दक्षिण में भी पहुँच चुके थे। परन्तु दुर्भाग्य से यह इतने कुसमय और अव्यवस्थित ढंग से हुआ कि अंग्रेजों को उसका दमन करने में विशेष कठिनाई नहीं हुई। नाना साहब ने द. भारत से निरन्तर पत्र–व्यवहार किया। महाराष्ट्र में रगांबापू जी गुप्ते (सतारा के पूर्व राजा प्रताप सिंह के वकील के रूप में इग्लैण्ड गए थे), हैदराबाद के सोनाजी पंत, रंगाराव पागे, राधाकृष्ण दण्डसेन, गोलकुण्डा में चिंताभूपति तथा उसके भतीजे सन्यासी भूपति, कर्नाटक में रामचंद्रराव, शोलापुर के राजा, मद्रास में ज्योतिषियों के वेष में दो प्रमुख क्रांतिकारी नेता अरनागिरि व कृष्णा, गोवा में दीपुजी राणा, केरल के विजय कुदारत कुंजी माया और मुल्ला सली कोनजी मरकार आदि ने विद्रोह में सक्रिय भाग लिया था।

इसके अतिरिक्त, हरियाणा और पंजाब के लोगों ने भी इस विद्रोह में बढ़–चढ़कर हिस्सा लिया। मेवात में सदरुद्दीन नामक एक किसान के नेतृत्व में विद्रोह हुआ। इसी प्रकार पानीपत में बूअली कलंदर के इमाम के नेतृत्व में विद्रोह हुआ। इसके अतिरिक्त, पंजाब प्रांत में फिरोजपुर, पेशावर, होतीमर्दान, जालघंर, फिल्लौर व अज़लाना में देशी पल्टनों ने विद्रोह किए। 1856–57 और 1857–58 की पजांब की प्रशासकीय रिपोर्टों के अनुसार 386 व्यक्तियों को फाँसी दी गई, 1998

व्यक्तियों को मारा गया और अनेक कैदी के रूप में रखे गए। ध्यातव्य है कि अंडमान जेल में जो पहला क्रांतिकारियों का जत्था भेजा गया, उसमें 206 पजांब से थे।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सन् सत्तावन का विद्रोह केवल उत्तर– भारत में ही नहीं अपितु एक विशाल भूभाग में व्याप्त हो चुका था।

विद्रोह की असफलता के कारण

1857 का विस्फोट भारतीय इतिहास की एक अभूतपूर्व घटना थी। इस विद्रोह ने ब्रिटिश साम्राज्य के अस्तित्व के लिए गंभीर संकट उत्पन्न कर दिया था। भारतीय सिपाहियों की संख्या यूरोपीय सिपाहियों से सात गुनी थी तथा यह विद्रोह इतना आकस्मिक हुआ कि सरकार हैरान रह गई। अवध तथा रुहेलखण्ड जैसे भूक्षेत्र तो कुछ समय के लिए अंग्रेजों के हाथ से निकल गए। उत्तरी भारत में एक के बाद एक विद्रोह के परिणामस्वरूप विद्रोहियों की स्थिति मजबूत होती जा रही थी। परन्तु अन्ततः परिणाम विद्रोहियों के खिलाफ ही गया और एक बार पुनः अंग्रेज विद्रोह को सफलतापूर्व दबाने में सफल रहे। ऐसे में विद्रोह की असफलता का विश्लेषण करना काफी महत्वपूर्ण हो जाता है।

विद्रोहियों की असफलता के कारण काफी स्पष्ट है। उन्होंने अपने पक्ष में अनुकूल परिस्थितियों का प्रभावशाली ढंग से उपयोग नहीं किया; विशेषकर विद्रोह के प्रारम्भिक चरण में विभिन्न स्थानों पर विद्रोह असमन्वित तथा असंगठित रहे। हम देखते हैं कि विद्रोहियों के बीच सुनियोजित कार्यक्रम का पूर्ण अभाव रहा। दिल्ली से यूरोपीय सेना को खदेड़ देने के पश्चात विद्रोहियों की स्थिति निरन्तर मजबूत हो रही थी, इसके बावजूद उन्होंने दिल्ली के आसपास के भाग पर अपना पूर्ण अधिकार

जमाकर मुक्तक्षेत्र स्थापित नहीं किया। किसी स्थान पर विजय प्राप्त कर लेने पर भी उनके पास आगे का कार्यक्रम नहीं होता था।

विद्रोहियों को सिंधिया, होल्कर, राजपूताने आदि बड़े घरानों का कोई सहयोग नहीं मिला। वास्तव में साढ़े पाँच सौ रियासतों में से कुछ ही सामंतों व राजाओं ने विद्रोह में भाग लिया। बाकी अंग्रेजों के राजभक्त बने रहे। लार्ड केनिंग उनकी प्रशंसा करते हुए कहता भी है कि ये शासक 'तूफान को रोकने में बाँध' की तरह साबित हुए। इसी प्रकर बड़े जमींदारों, साहूकारों और व्यापारियों ने भी सामान्यतः तत्कालीन कपंनी शासन को समर्थन दिया। अंग्रेजी पढ़ा–लिखा शिक्षित मध्यवर्ग भी इस संघर्ष में तटस्थ रहा।

1857 के विद्रोह की एक बड़ी कमजोरी इसका निश्चित समय से पूर्व प्रारम्भ हो जाना था। भारतीय विद्रोही सिपाही अति उत्साह में अपना होश खो चुके थे और उन्होंने समय से पूर्व विद्रोह प्रारम्भ कर दिया, जिससे वे प्रायः असंगठित रह गए और अंग्रेजों को अलग–अलग समय पर इन्हें दबाने में विशेष कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। जी.बी.मालेसन ने अपनी पुस्तक में एक जगह लिखा है कि यदि पूर्व निश्चय के अनुसार एक निश्चित तारीख को सारे भारत में स्वाधीनता का युद्ध शुरू हुआ होता तो भारत में एक भी अंग्रेज जीवित न बचता।

विद्रोहियों की पराजय का एक बड़ा कारण उनकी अंग्रेजों की तुलना में सीमित सैन्य संसाधन का होना था। भारतीय विद्रोहियों के पास बदूंकें बहुत थोड़ी थीं और वे प्रायः तलवारों और भालों से लड़े, जबकि अंग्रेजी सेना एनफील्ड राइफल तथा उन्नत तोपों से लैस थी। नाना साहब ने तो एक बार कहा था कि यह नीली टोपी

वाली राइफल तो गोली चलने से पहले ही मार देती है। साथ ही विद्युत तार व्यवस्था और रेलवे ने भी अंग्रेजों की पर्याप्त मदद की। और तो और जहाँ विद्रोही योग्य नेता के लिए तरस रहे थे वहीं कपंनी को लारेन्स बंधु, निकलसन, आउट्रम, हैवलाक, नील, हयूरोज आदि योग्य व्यक्तियों की सेवायें प्राप्त हुई।

परिणाम

सन सत्तावन का विद्रोह यद्यपि पूर्णतया दमन कर दिया गया। परन्तु इसने भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की चूलों को हिला दिया। ब्रिटेन में इस विद्रोह की तीव्र प्रतिक्रिया हुई। अतः कंपनी के शासन को समाप्त कर दिया गया और भारत के शासन को सीधे ब्रिटिश साम्राज्ञी के अधीन कर दिया गया।

यद्यपि औपनिवेशिक विचारधारा से प्रेरित इतिहासकारों ने 1857 का मूल्यांकन सीमित संदर्भों में किया है परन्तु यदि विश्लेषण करें तो स्पष्ट होता है कि यह मात्र तात्कालिक परिस्थितियों से उपजा विद्रोह ही नहीं था अपितु 1857 के विद्रोह की स्थिति पिछले 100 वर्षों के औपनिवेशिक शासन के शोषण के कारण पैदा हुई थी। यद्यपि 1857 के विद्रोह का दमन कर दिया गया, परन्तु इसने कपंनी के भाग्य का भी फैसला कर दिया। जे.जे. थामसन ने ठीक ही लिखा है– "मरा हुआ सीजर, जीवित सीजर से अधिक प्रभावशाली था।"

1857 के विद्रोह का तात्कालिक परिणाम चाहे जो रहा हो, परन्तु दीर्घकालिक रूप में इसने भारत में राष्ट्रवाद का अभ्युदय किया। विद्रोह ने जहाँ एक ओर औपनिवेशिक सत्ता को संवैधानिक सुधारों हेतु बाध्य किया वहीं मध्यवर्ग को

उपनिवेशवाद के स्वरूप को विश्लेषित करने हेतु उद्देलित किया था। अतः साम्राज्यवादी इतिहासकारों के मत से सहमत नहीं हुआ जा सकता।

वास्तव में, भविष्य के स्वतन्त्रता आन्दोलन की दिशा व दशा तय करने व राष्ट्रवाद को आगे बढ़ाने में 1857 का विप्लव आधार बना और अब यह निश्चित हो गया कि स्वतन्त्रता आन्दोलन पश्चगामी शक्तियों के नेतृत्व में न लड़ा जाकर प्रगतिगामी मध्यवर्ग के नेतृत्व में लड़ा जाएगा। इस प्रकार, दीर्घकालिक परिणामी स्वरूप में यह संघर्ष, स्वतन्त्रता आन्दोलन की दिशा का निर्धारक बना।

सन्दर्भ–संकेत

1. 1857 : निरन्तरता और परिवर्तन (उद्‌भावना)–अंक–75–प्रदीप सक्सेना (संपा)–पृ.–209.
2. पाहीधर– कमलाकांत त्रिपाठी– पृ.–62–राजकमल पेपरबैक्स – 1994.
3. नथा पथ : 1857 पर विशेषांक (मई 2007)– मुरली मनोहर प्रसाद सिंह (संपा.) – पृ.–7
4. आधुनिक भारत का इतिहास–यशपाल ग्रोवर–पृ.–488– एस.चंद, नई दिल्ली
5. 1857 के स्वाधीनता संग्राम का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव– भगवान दास माहौर–पृ.–13, कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर, संस्करण–1976
6. भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष– प्रो. विपिन चन्द्र–पृ.–4–हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दि.वि.
7. मार्क्स और एंगेल्स : भारत का प्रथम स्वाधीनता संग्राम– पृ.–48–सी.पी.आई. प्रकाशन.
8. पाहीघर– कमलाकांत त्रिपाठी– पृ.–62– राजकमल पेपर बैक्स–1994
9. हिन्दुस्तान की कहानी (संक्षिप्त)– जवाहर लाल नेहरू– पृ.–229 – सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, संस्करण–2007
10. पाहीघर– कमलाकांत त्रिपाठी– पृ.–85–राजकमल पेपरबैक्स– 1994
11. अनभै साँचा : 1857 बगावत का दौर– मुरली मनोहर प्रसाद सिंह (संपा.) – पृ.–12
12. 1857 : निरन्तरता और परिवर्तन (उद्‌भावना)– अंक–75–प्रदीप सक्सेना (संपा.) –पृ.–334
13. हिन्दुस्तान समाचार पत्र–11 मई, 2007
14. 'हिन्दुस्तान' समाचार पत्र–11 मई, 2007

तृतीय अध्याय

अवध का लोकजीवन : एक परिचय

क. लोकजीवन एवं लोकसाहित्य : अर्थ एवं महत्त्व

ख. अवध का लोकजीवन

1. सामाजिक जीवन
2. आर्थिक जीवन
3. राजनीतिक जीवन एवं राष्ट्रीय चेतना

आधुनिक उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग में स्थित क्षेत्र को प्राचीन काल से ही अवध क्षेत्र के नाम से जाना जाता है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो प्रतापगढ़, सुल्तानपुर, फैजाबाद, अम्बेडकरनगर, जौनपुर, इलाहाबाद, बाराबंकी, बहराइच तथा लखनऊ आदि जिले अवध क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। भारत का यह भाग अपनी समृद्ध परम्परा व विशिष्ट संस्कृति के कारण सदा से आकर्षण का केन्द्र बना रहा है। यहाँ के रीति–रिवाज, लोकगीत, लोकगाथायें, मान्यतायें व परम्परायें जिज्ञासु विद्वानों को सहज ही अपनी ओर आकर्षित करती हैं। वास्तव में यही वह भूमि है जहाँ जन–जन के नायक तुलसीदास तथा मलिक मुहम्मद जायसी ने लोक को केन्द्र बनाकर अपने ग्रन्थों का प्रणयन किया था। निःसन्देह अवध का लोकजीवन विशिष्ट है तथा इसका ज्ञान हमारे लिए नितान्त आवश्यक है। परन्तु अवध के लोकजीवन व लोकसंस्कृति को भली–भाँति जानने से पूर्व हमारे लिए यह जानना आवश्यक है कि लोकजीवन क्या है? इसके साथ ही लोकसाहित्य की जानकारी भी हमारे लिए आवश्यक है।

क. लोकजीवन एवं लोकसाहित्य : अर्थ एवं महत्व

'लोक' शब्द की उत्पत्ति अंग्रेजी के 'फोक' से हुई है जो जर्मनी में 'फोक' शब्द के रूप में अभी तक प्रचलित है। ज्ञातव्य है कि विद्वानों के एक समूह ने 'लोक' शब्द से तात्पर्य उन लोगों से लिया है जिनकी अपनी विशिष्ट संस्कृति होती है तथा ये शासक वर्ग की विचारधारा अथवा लिखित प्रमाण वाली जातियों से अप्रभावित रहते हैं। ध्यातव्य है कि प्रारम्भ में 'लोक' शब्द के अन्तर्गत ग्राम और नगर दोनों के

निवासी शामिल किए जाते थे। परन्तु बीसवीं सदी तक आते–आते 'लोक' शब्द का अर्थ विस्तार या अर्थ परिवर्तन होने लगा और अब 'लोक' शब्द का अर्थ हो गया – ग्रामीण जनसमुदाय अथवा कृषक जनसमुदाय। ये लोग नगर निवासियों की शिक्षा–दीक्षा और उनके विधिवत संस्कारों से दूर ही थे और अपेक्षाकृत नगर निवासियों से पिछड़े भी थे। 'लोक' शब्द की यही व्याख्या हमें समकालीन विश्वकोशों में भी मिलती है। उदाहरण के लिए 1953 में प्रकाशित इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में 'फोक' शब्द का अर्थ मुख्यतः ग्रामीण जन–समुदाय ही दिया गया है, जिसमें कृषक आदि ग्रामवासी शामिल हैं। 'लोक' शब्द की उपरोक्त परिभाषा से मिलती–जुलती परिभाषा अमेरिकी विद्वान् जार्ज हरज़ोग ने भी दी है। उन्होंने 'लोक' का तात्पर्य उस जनसमूह से बताया है जिसमें नगर की सांस्कृतिक, आर्थिक और शिक्षा मूलक विविधता कम परिलक्षित होती है। इसके बरक़्स डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी 'लोक' शब्द की व्याख्या व्यापक सन्दर्भों में करते हुए इसके अन्तर्गत गाँवों तथा नगरों में फैली समूची जनता को शामिल करते हैं। परन्तु वे गाँव तथा नगर में रहने वाली जनता की कुछ खास विशेषताओं की ओर भी इंगित करते हैं, जो उन्हें 'लोक' शब्द के अन्तर्गत समाहित करती है। डॉ. त्रिलोचन पाण्डेय ने अपनी किताब में द्विवेदी जी के लोक संबंधी विचार को कुछ इस तरह से अभिव्यक्त किया है –

> "डॉ. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'लोक' शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है बल्कि नगरों या गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत, रूचि सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की

अपेक्षा अधिक सरल, अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रूचि वाले लोगों की समूची विलासिता, सुकुमारिता को जीवित रखने के लिए आवश्यक वस्तुयें उत्पन्न करते हैं।"[1]

इस प्रकार सामान्य अर्थ में कहा जाये तो 'लोक' शब्द अपने व्यापक अर्थ में जनसाधारण का वाचक है। परम्परा से आबद्ध लोकजीवन में विविध मानव संबंधों का सजीव, साकार एवं सक्रिय रूप मिलता है।

ज्ञातव्य है कि लोकजीवन की अभिव्यक्ति लोक–साहित्य के माध्यम से होती है। इसके अन्तर्गत मुख्य रूप से लोकगीत, लोकगाथायें, कथागीत, धर्मगाथायें, अवदान, लोककथायें एवं लोकनाट्य आदि आते हैं। ध्यान देने की बात है कि लोक साहित्य की अपनी कुछ खास विशेषतायें होती हैं जिसके कारण लोकसाहित्य अन्य साहित्यिक विधाओं से भिन्न होती है। लोकसाहित्य की कुछ सामान्य विशेषतायें निम्न हैं –

1. लोकसाहित्य की अभिव्यक्ति का माध्यम स्थानीय बोली अथवा लोकभाषा हुआ करती है जिसका स्वरूप स्थान–स्थान पर बदलता रहता है। भाषा का यह स्वरूप मुख्यतः मौखिक होता है।
2. लोकसाहित्य के लिए रूढ़िगत शास्त्रीय नियमों का पालन करना आवश्यक नहीं है। फिर भी इसके कुछ अपने नियम होते हैं, जिसके अनुसार इसके विविध रूपों का उद्‌भव और विकास होता रहता है।

---

[1] लोकसाहित्य का अध्ययन – डॉ. त्रिलोचन पाण्डेय – पृ. 7

3. लोक साहित्य में आदिम जातियों तथा ग्राम एवं नगरों में रहने वाले साधारण जन–समुदाय की सांस्कृतिक विशेषतायें विद्यमान होती हैं। ये विशेषतायें लोक–संस्कृति के सम्पूर्ण धरातल की परिचायक कही जा सकती है।

4. लोकसाहित्य की सारी सामग्री प्रायः मौखिक रूप में ही प्रचलित होती है। उसका वास्तविक स्वरूप अलिखित ही रहता है। लिखित स्वरूप प्रदान करने पर उसका स्वाभाविक विकास अवरूद्ध हो जाता है।

5. लोक साहित्य का परम्परा द्वारा सम्प्रेषण हुआ करता है।

6. लोकसाहित्य का कोई एक ही रचयिता नहीं होता है अपितु वह किसी जनसमूह की अथवा क्षेत्र विशेष की सामूहिक सम्पत्ति के रूप में अभिव्यक्त होती है।

7. व्यक्तिविशेष की रचना भी लोकसाहित्य बन सकती है, किन्तु इसके लिए उसे जनसाधारण का समर्थन प्राप्त होना चाहिए। यह आवश्यक है कि लोक उसे अपनी ही रचना मानने को तैयार हो।

इस प्रकार सामान्य अर्थों में कहा जा सकता है कि लोक साहित्य मौखिक परम्परा में प्राप्त लोक का वह साहित्य है जिसकी रचना स्थानीय बोली में हुआ करती है और जो शास्त्रीय नियमों से बद्ध न होते हुए भी अपने कुछ नियमों को लेकर चलती है। इसमें आदिम जातियों की ग्रामीण तथा साधारण नागरिक जन–जीवन की सांस्कृतिक झाँकी मिलती है और अलिखित रूप में ही इसकी गतिशीलता बनी रहती है। लोक साहित्य को और भी स्पष्ट करते हुये डॉ. गणेश दत्त सारस्वत एक जगह लिखते हैं –

"लोकसाहित्य जनसाधारण के हित के लिए जनसाधारण के अनुभव, अनुभूतियों एवं ज्ञान का संग्रह है। यह ज्ञान कहानी, गाथा, प्रहेलिका, गीत आदि के रूप में जनसाधारण को परम्परा से प्राप्त हुआ है।"[2]

हम देखते हैं कि लोकसाहित्य में जनसाधारण के जीवन का जितना सच्चा और स्वाभाविक वर्णन प्राप्त होता है उतना और कहीं नहीं मिलता। सच तो यह है कि यदि किसी समाज का वास्तविक चित्र देखना हो तो उसके लोकसाहित्य का अध्ययन करना चाहिए। अवध क्षेत्र के विख्यात विद्वान् रामनरेश त्रिपाठी, जिन्होंने लोक साहित्य को ग्राम साहित्य का पर्याय माना है, ने एक जगह उचित ही लिखा है –

"प्राचीन भारत वर्ष क्या था? और उसके निवासियों का सच्चा स्वरूप क्या है? यह अगर जानना और समझना हो तो हमें ग्राम साहित्य का अच्छा अध्ययन करना चाहिए।"[3]

लोककवि मानव समाज को जिस रूप में देखता है वह उसका उसी रूप में वर्णन करता है। अतः उसका वर्णन सत्य से दूर नहीं होता। इतिहास की बड़ी–बड़ी पोथियों में लड़ाई–झगड़ों और संघर्षों का विस्तृत विवरण भले ही मिल जाए, परन्तु समाज के यथातथ्य चित्रण के लिए लोकसाहित्य का अनुसंधान वांछनीय ही नहीं अपितु अनिवार्य भी है। वास्तव में इन लोकगीतों, कथाओं और गाथाओं में आमजन के रहन–सहन, खान–पान, आचार–विचार और रीति–रिवाज का सहज और सच्चा चित्र देखने को मिलता है। ध्यान देने की बात है कि इन लोकसाहित्यों में आम आदमी का

---

[2] हिन्दी लोक साहित्य (प्रथम खण्ड) – डॉ. गणेश दत्त सारस्वत – पृ. 15
[3] ग्राम साहित्य (पहला भाग) – रामनरेश त्रिपाठी (संपा.) – पृ. 37

सच्चा चित्रण तो मिलता ही है साथ ही साथ उसकी आकांक्षाओं, इच्छाओं तथा सुनहरे भविष्य की कल्पना भी हमें लोकसाहित्य में भली–भाँति मिलती है। रामनरेश त्रिपाठी ने एक उदाहरण के माध्यम से इसे स्पष्ट किया है –

> "जब हम किसी चमार के घर में 'सोने की थरिया में ज़ेवना परोस्यों' या 'खोलौं न चन्दन केवड़ियाँ' वाला गीत गाया जाता हुआ सुनते हैं तब हमें मानना पड़ता है कि किसी समय चमार के घर में भी सोने की थाली और चंदन के किवाड़ रहे होंगे और न रहे होंगे तो भी उसके दिमाग तक तो वे पहुँच ही गए थे।"[4]

इसी प्रकार, लोक साहित्य में सामाजिक एवं धार्मिक जीवन का पता तो चलता ही है साथ ही साथ यथार्थवाद एवं आदर्शवाद का भी बड़ा सुन्दर समन्वय लोकसाहित्य में उपलब्ध होता है। लोकगीतों में जहाँ भाई–बहन, माता–पुत्री और पति–पत्नी के आदर्श चरित्र का चित्रण किया गया है, वहीं लोककवि यथार्थवाद के वर्णन की ओर भी जागरूक दिखाई पड़ता है। सदियों से चले आ रहे ननद–भावज, सास–पतोहू और सपत्नियों के विरोध और कलह का विवेचन करने में लोककवि ने जरा भी हिचक नहीं दिखाई है। लोकगीतों में सुखी समाज के धन–धान्य तथा ऐश्वर्य के वर्णन के साथ ही साथ गरीबी, अकाल, सूखा तथा घोर दरिद्रता का दृश्य भी दिखाई पड़ता है। वास्तव में जो साहित्य जन–जीवन की आशा–निराशा, सुख–दुख, हर्ष–विषाद आदि सभी का सजीव चित्रण करता है वही सच्चा, अमर एवं प्रतिनिधि काव्य है। इस दृष्टि से लोक साहित्य को अमर साहित्य की कोटि में रखा जा सकता है।

---

[4] ग्राम साहित्य (पहला भाग) – रामनरेश त्रिपाठी (संपा.) – पृ. 37

ज- अवध का लोकजीवन

लोकजीवन और लोकसाहित्य की एक सामान्य जानकारी प्राप्त करने के पश्चात् अब सवाल यह उठता है कि अवध का लोकजीवन कैसा था? ज्ञातव्य है कि प्राचीनकाल से ही अवध की एक शानदार सांस्कृतिक विरासत रही है। यहाँ का लोकजीवन अपने आप में विशिष्ट है। अवध के ग्रामगीत, ग्रामकथायें, लोककथायें, अवध की स्त्रियों के द्वारा विभिन्न अवसरों तथा ऋतुओं में खेले जाने वाले खेल, अवध क्षेत्र की धार्मिक मान्यतायें, रूढ़ियाँ, परम्परायें, अंधविश्वास, यहाँ की लोककला, लोकनृत्य तथा लोकविश्वास सबकुछ मिलकर अवध के लोकजीवन को एक विशिष्ट स्वरूप व पहचान प्रदान करते हैं। ज्ञातव्य है कि अवध का लोकजीवन अपने आप में एक व्यापक फलक को समेटे हुए हैं अतः अवध के लोकजीवन को भली–भाँति समझने के लिए उसका विस्तार से वर्णन–विश्लेषण आवश्यक है। अतः हम निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत अवध के लोकजीवन को भली–भाँति समझ सकते हैं।

क. सामाजिक जीवन

अवध का सामाजिक जीवन हमें यहाँ के लोकगीतों, गाथाओं तथा लोककथाओं के माध्यम से ज्ञात होता है। कृषि प्रधान देश भारत की अधिकांश जनता कृषि कर्म से जुड़ी है। अवध क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं है। अवध की अधिकांश ग्रामीण जनता के जीविकोपार्जन का साधन यही कृषि है। कृषि कर्म से जुड़े तथा इनसे संबंधित अन्य व्यवसायों से जुड़े अवध के किसानों व अन्य आमजनों के बीच एक लम्बे समय तक साथ–साथ रहने के चलते अपना विशिष्ट सामाजिक–सांस्कृतिक समूह बन जाता है।

ज्ञातव्य है कि अवध के किसानों का सामाजिक जीवन विभिन्न वर्णों, वर्गों तथा जातियों में विभक्त होता है और प्रत्येक वर्ण तथा जाति के अपने अलग–अलग गीत, त्यौहार, व्रत तथा देवी–देवता होते हैं। अवध के गाँवों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, कुर्मी, अहीर, लुहार, नाई, धोबी, चमार आदि जातियाँ सामूहिक रूप से रहती हैं। इनमें से कुछ जातियाँ तो कृषि कर्म से जुड़ी होती हैं जबकि कुछ जातियों का अपना विशिष्ट व्यवसाय होता है, जिसका संपादन कर वे साल में एक निश्चित दिन किसानों से अनाज का एक हिस्सा प्राप्त करते हैं। आज भी अवध के गाँवों में यह व्यवस्था देखने को मिलती है। ऐसी जातियों में लुहार, कहार, धोबी, चमार तथा केवट आदि प्रमुख हैं।

ज्ञातव्य है कि वर्ण, वर्ग तथा जाति विभाजन पर आधारित समाज वाले अवध के गाँवों में ऊँची तथा नीची जातियाँ एक साथ रहती हैं। इनमें एक तरह का पारस्परिक संबंध भी होता है। ऊँची जातियों द्वारा नीची जातियों का शोषण उत्पीड़न कोई नई बात नहीं है। अवध का लोकजीवन भी इससे अछूता नहीं है। वास्तव में औपनिवेशिक शासन व्यवस्था के अनतर्गत साम्राज्यवादी कंपनी सरकार ने अपने हितों को ध्यान में रखकर कुछ ऐसी नीतियाँ बनाई थी, जिसके चलते अवध–क्षेत्र में अमीर–गरीब के बीच खाई चौड़ी होती चली गई और दोनों के बीच एक प्रकार का शोषक–शोषित संबंध स्थापित हो गया। कमलाकांत त्रिपाठी के एक उपन्यास 'बेदखल' के पात्र पदारथ तेवारी तथा सुचित जैसे किसान अवध के इसी शोषक–शोषित संबंधों को स्पष्ट करते हैं। अवध के विभिन्न अँचलों में फैले सैकड़ों गीत इस विषमता को आज भी अभिव्यक्त करते हैं।

इन सामाजिक विषमताओं के बावजूद अवध के लोकजीवन में सदैव एक गजब का उल्लास दिखाई देता है जो वे अपने लोकगीतों के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। सच कहा जाए तो अवध के ग्रामीणजन जीवन के प्रत्येक क्षण को पूरे उल्लास के साथ जी लेना चाहते हैं। संभवतः यही कारण है कि अवध के प्रत्येक गाँव के प्रत्येक जाति ने, यहाँ तक कि जंगल में बसने वाले मुसहर तक ने अपने जातीय गीत अलग बना रखे हैं। इन जातीय गीतों को देखकर लगता है कि उनके गीतों में उनके सामाजिक जीवन के लिए कार्यक्रम होता है।उनके गाने के स्वर और बाजे भी अलग–अलग होते हैं। फिर हम देखते हैं कि अवध में रहने वाली इन जातियों के विशिष्ट नृत्यों में भी उल्लास देखा जा सकता है। स्थानीयता की चादर ओढ़े ये ग्रामीण नृत्य सहज ही मन को आकर्षित कर जाते हैं। अवध के केवट, मल्लाह, अहीर, चमार, धोबी, पासी, नाई, भड़भूजा, गड़रिया, कहार, कुम्हार और भंगी सभी अपने जातीय उत्सवों में खुद नाचते और गाते हैं। सबके नाच और गाने के तरीके तथा बाजे अलग–अलग हैं। ज्ञातव्य है कि प्राचीन काल में शिवजी नाचते थे, श्रीकृष्ण नाचते थे, अर्जुन नृत्य के गुरू बने थे। आज भले ही उनकी नृत्यकला विकृत रूप में ही क्यों न हो, अभी भी अवध के गाँवों में सुरक्षित है। आज पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से हमारे शिक्षित वर्ग में भी नृत्यकला के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ है, परन्तु भारतीय नृत्यकला, जो गाँव की विभिन्न जातियों में बिखरी हुई मिलती है, पश्चिमी नृत्यकला से बहुत बातों में विशेष है। आज अवध क्षेत्र के अहीरों का नाच हो या धोबियों का नाच हो, यूरोप और अमेरिका दोनों के लिए मुश्किल होगा। उनकी 'फरी' देखकर सर्कस वाले भी दंग रह जाएंगे।

ज्ञातव्य है कि अवध क्षेत्र में कुछ गीत विशिष्ट जातियों से संबंधित होते हैं। जैसे – अहीरों का 'विरहा', दुसाधों का 'पचरा', गोड़ों का 'गोड़ऊँ नाच' तथा तेलियों का 'कोल्हू के गीत'। अवध के क्षेत्र में प्रचलित इन जातीय गीतों में अहीरों के जातीय गान विरहा का विशिष्ट स्थान है। ये विरहे बिहारी के दोहों के समान हृदय पर सीधे चोट करते हैं। आज भी अवध क्षेत्र में खास मौकों पर लोग विरहा बड़े उत्साह से सुनते हैं। अवध क्षेत्र में विरहा की क्या महत्ता है, इस को स्पष्ट करते हुए डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय लिखते हैं –

> "उमंग से भरा हुआ नौजवान अहीर ललकारते हुए जब विरहा गाता है तब श्रोताओं के हृदय में एक विचित्र उत्साह पैदा हो जाता है। अहीरों में विवाह के अवसर पर विरहा गाने की प्रतियोगिता होती है और जो अधिक संख्या में विरहा गा सकता है, उसी की जीत मानी जाती है।"[5]

इसी प्रकार अवध के लोकजीवन में श्रमगीतों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। श्रमगीत वे गाने हैं जो किसी काम को करते समय गाये जाते हैं। अवध के किसान तथा मजदूर अपनी शारीरिक थकावट को दूर करने के लिए काम करते समय गाना भी गाते जाते हैं। इससे एक तो काम करने में मन लगा रहता है, दूसरे परिश्रम का भी पता नहीं चलता है। इस प्रकार के गीतों में जतसाँर, रोपनी, सोहनी आदि के गीत प्रधान हैं।

ज्ञातव्य है कि चक्की पीसते समय जो गीत गाये जाते हैं, अवध क्षेत्र में महिलायें उसे 'जतसाँर' या 'जाँत के गीत' कहती हैं। ऐसे गीतों में करुण रस की

---

[5] लोक साहित्य की भूमिका – कृष्णदेव उपाध्याय – पृ. 108

प्रधानता होती है। इन गीतों में कहीं तो दुखिनी विधवा का करुण क्रन्दन सुनने को मिलता है तो कहीं बाँझ स्त्री की मनोवेदना अभिव्यक्त होती है। इस प्रकार करुण रस के जितने भी मार्मिक प्रसंग हो सकते हैं, प्रायः इन सभी की अवतारणा इन गीतों में हुई है। पुत्रहीन विधवा की मनोव्यथा का कारूणिक वर्णन अनेक गीतों में उपलब्ध होता है जो पाषाण हृदय को भी पिघला देता है।

इसी प्रकार धान की रोपाई के समय अवध के किसानों द्वारा जो गीत गाए जाते हैं, उन्हें 'रोपनी के गीत' कहते हैं। अवध क्षेत्र में धान रोपने का काम प्रायः मुसहर, चमार आदि जाति की स्त्रियाँ करती हैं। ये धान की रोपाई करते हुए गीत गाती जाती है। इन रोपनी के गीतों में मुख्यतः गार्हस्थ्य जीवन का चित्रण मिलता है।

इसके अतिरित, खेत में जो व्यर्थ की घास और पौधे पैदा हो जाते हैं, उन्हें काटकर अलग कर देने को अवध क्षेत्र में निराना कहते हैं और इस समय जो गीत गाये जाते हैं, उन्हें 'निरौनी' कहा जाता है। इन्हें 'निरवाही के गीत' भी कहा जाता है। इन गीतों का भी वर्ण्य विषय लगभग वही है जो 'रोपनी के गीतों' का है।

ज्ञातव्य है कि अवध के लोकजीवन में शिक्षा का भी महत्व है। परन्तु यह आधुनिक शिक्षा से थोड़ी भिन्न कही जा सकती है। सही अर्थों में कहा जाये तो अवध के गाँवों में शिक्षा का आरम्भ माँ की गोद से ही शुरू हो जाता है। बचपन में विद्यालय जाने से पूर्व अथवा विद्यालय जाने की प्रारम्भिक अवस्था में बच्चों को लोरियों, खेलों व कथाओं द्वारा शिक्षा दी जाती है। माँ मधुर स्वर में गा–गाकर बच्चे को जगाती और सुलाती है। बच्चा जब जाग उठता है और उसे बहलाने की जरूरत होती है, तब उसका बड़ा भाई, बहन, पिता, चाचा या घर का कोई और व्यस्क व्यक्ति

उसे गोद में उठा लेता है और घर में या बाहर किसी खाटपर चित्त लेकर अपने दोनों घुटनों को बराबर मोड़कर टाँगों पर उसे बैठा लेता है और यह गीत गाता है –

"खंता मंता लेई थै, एक कौड़िया पाई थै,
गंगा में बहाई थै, गंगा माई बालू दिहिन,
ऊ बालू हम भुजवा क दीन, भुजवा हम्मै लाई दिहेस,
ऊ लाई घसिकरवैक दीन, घसिकरवा हम्मै घास दिहेस,
ऊ घसिया हम गैया क दीन, गैया हम्मै दूध दिहेसि,
यहि दुधवा का खीर पकायऊँ, खिरिया गै जुड़ाइ
भैया गैं कोहाँई, बहिनी गै मनावै,
चला भइया खाइ ला, भैया मारेन दुइ लात।"[6]

गीत के अंत में खेलाने वाला 'पु–लु–लु–लु' कहकर टाँगों को इतना ऊपर उठा देता है कि बच्चा खेलाने वाले की छाती पर सरक जाता है और बच्चे का मुँह खेलाने वाले के मुँह के पास आ जाता है, जिसे वह चूम लेता है।

उपरोक्त गीत को गौर से देखने पर ज्ञात होता है कि इस गीत द्वारा बच्चे को घर के आसपास की कितनी वस्तुओं का ज्ञान करा दिया जाता है – कौड़ी, गंगा, बालू, भड़भूजा, लाई, घसियारा, दूध, खीर, कुम्हार, गाय, खीर, बहन आदि। इसी प्रकार रात में जब चाँद दिखाई देता है। माँ या बहन चाँद की ओर हाथ उठाकर बच्चे को दिखलाती हैं और गाती हैं जिनसे बच्चे को अनेक वस्तुओं की जानकारी मिलती है –

---

[6] ग्राम साहित्य (पहला भाग) – रामनरेश त्रिपाठी (संपा.) – पृ. 43

"चंदा मामा धाइ आवा, धुपाइ आवा,

टाटी व्योंड़ा देत आवा,

घी का लोंदा लेत आवा,

भैया के मुँह में डारि द, घुटुक से।"[7]

इसी प्रकार के न जाने कितने लोकगीत, लोरियाँ अवध के गाँवों में आज भी विद्यमान हैं, जो शाम होते ही बड़ी–बूढ़ी औरतों के मुँह से सुनाई देने लगता है। यद्यपि देखने सुनने में तो ये साधारण ही प्रतीत होते हैं, परन्तु इन सामान्य सी लगने वाली लोरियों व लोकगीतों में बड़ी गूढ़ बातें निहित होती हैं। यही नहीं अवध के गाँवों में ऐसे सैकड़ों कहावतें व मुहावरे भी लोगों की जुबान पर सदा विद्यमान रहते हैं, जिसमें एक पूरे समाज का विशाल अनुभव समाहित होता है। राम नरेश त्रिपाठी ने एक बहुत ही सुन्दर उदाहरण इन कहावतों व मुहावरों का दिया है जब एक किसान कहता है –

"लरिका ठाकुर बूढ़ समान। ममिला बिगरै सांझ बिहान।"[8]

अर्थात् राजा लड़का है और दीवान बूढ़ा। अतः वैचारिक मतभेद सदा बने रहेंगे तथा दोनों में पट नहीं सकती। सुबह–सवेरे दोनों में झगड़ा ही होगा।

उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि साधारण किसान को भी राजा और दीवान के स्वभाव का सूक्ष्म परिचय है। वास्तव में मुहावरे व कहावतें लोकसाहित्य की अपनी विशिष्ट पहचान है। गाँव वालों की यह विशिष्ट क्षमता नगर वालों में बिल्कुल नहीं

---

[7] ग्राम साहित्य (पहला भाग) – रामनरेश त्रिपाठी (संपा.) – पृ. 44
[8] वही, पृ. 59

है। लोकसाहित्य में आए कहावतों के महत्व को स्पष्ट करते हुए रामनरेश त्रिपाठी सही लिखते हैं –

"कहावतें तो ग्राम–साहित्य के रत्न हैं। वे गाँव वालों ही के लिए नहीं, मनुष्य मात्र के लिए उपयोगी है। और जो गाँव वालों को समझना चाहे, उनके लिए तो अंधेरे रास्ते के दिये जैसी हैं।"[9]

कहावतों और मुहावरों के अतिरिक्त अवध के लोकजीवन में 'बुझौवल' का भी महत्वपूर्ण स्थान है। अवध के गाँवों में प्रचलित ये बुझौवल वास्तव में पहेलियाँ हैं जो बच्चों की बुद्धि पर शान चढ़ाने का काम करती हैं। आज भी अवध के गाँवों में शाम की चौपाल में या नीम के पेड़ के नीचे अथवा अलाव के पास किसी अधेड़ या बुड्ढे को घेरे हुए बच्चों को देखा जा सकता है। जहाँ बुझौवल का खेल खेला जाता है। ये बुझौवल बड़े ही गूढ़ार्थ वाले होते हैं। आश्चर्य है कि गाँव के अशिक्षित अथवा कम पढ़े–लिखे लोग उन्हें बना कैसे लेते हैं। अवध के गाँवों में ऐसे सैकड़ों बुझौवल हैं, जो बड़े–बड़ों को कान खुजाने पर बाध्य कर देते हैं। इस संबंध में पाजामे का यह बुझौवल ही सर चकरा देने के लिए काफी है –

"दुह मुँह छोट एक मुँह बड़ा,
आधा मनई लीले खड़ा।"[10]

इस प्रकार देखें तो जन्म से लेकर मरण तक अवध के लोगों का समस्त सामाजिक जीवन काव्यमय है। अवध क्षेत्र में सम्पन्न होने वाला शायद ही ऐसा कोई मांगलिक कार्य बचा हो, जिसमें संगीत को स्थान न दिया गया हो। वास्तव में यह

---

[9] ग्राम साहित्य (पहला भाग) – रामनरेश त्रिपाठी, पृ. 60
[10] वही, पृ. 60

अवध का लोकजीवन ही है जहाँ प्रत्येक परिश्रम के काम के साथ गीत गाया जाता है। राह चलते स्त्री–पुरुष गीत गाकर अपनी थकान मिटाते हैं, पालकी लिए कहार गीत गा–गाकर रास्ता काटते हैं, चरवाहा सुनसान जंगल में अपने गीतों से पेड़–पत्तों तक को जगाता रहता है। रात में किसान कोल्हू चलाकर गन्ने का रस तो निकालता ही है, साथ ही साथ लोकगीत की मधुर लहरियों की तान छेड़कर वातावरण को काव्यमय बना देता है।

विभिन्न वर्गों, वर्णों तथा जातियों में विभक्त अवध का लोकजीवन विभिन्न लोकविश्वासों में बँटा हुआ है। प्रायः प्रत्येक वर्ण अथवा जाति की अपनी–अपनी मान्यता, रिवाज व देवी–देवता हैं। यद्यपि नई सभ्यता व शिक्षा के चकाचौंध के कारण अवध के लोकजीवन में विद्यमान परम्पराओं व विश्वासों में परिवर्तन होने लगा है परन्तु अभी भी बहुत सी परम्परायें व लोकमान्यतायें अवध के गाँवों में चली आ रही हैं जिनपर पाश्चात्य शिक्षा का कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। अवध की ग्रामीण स्त्रियाँ आज भी उसी तरह से व्रत रखती हैं और अपनी अभीष्ट कामनाओं की सिद्धि के लिए देवी–देवताओं की पूजा उसी विधि और रीति–रिवाज से करती हैं जैसे पहले करती थी। अवध का पुरुष वर्ग भी अपनी धार्मिक भावनाओं और विधि–विधानों को सँजोकर थाती के समान सुरक्षित रखे हुए हैं। लोकगीतों में जिन प्रधान देवताओं की पूजा का उल्लेख किया गया है उनमें शिवजी सबसे अधिक प्रचलित हैं। ज्ञातव्य है कि भगवान शिव देवता के रूप में ही नहीं चित्रित किए गए हैं अपितु इन लोकगीतों में वे एक साधारण पति के रूप में भी दिखाई पड़ते हैं। इनकी पूजा प्रायः अवध के हर गाँव में की जाती है। इसके अतिरिक्त अवध की स्त्रियाँ कार्तिक मास में षष्ठी माता की पूजा

करती हैं जो वास्तव में सूर्य की ही उपासना है। इनके अलावा प्रायः अवध के प्रत्येक गाँव में डिवहारे बाबा व सत्ती माई का चौरा आवश्यक रूप से होता है। जहाँ गाँव की बड़ी–बूढ़ी औरतें नियमित पूजा–पाठ व चढ़ावा चढ़ाती रहती हैं। अवध के लोकजीवन में इन ग्राम देवता व गृह देवताओं के अलावा रोगों के देवी–देवता भी अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं जिनमें शीतला माता, षष्ठी माता, गलसुआ माता व छोटी माता प्रमुख हैं। फिर हम देखते हैं कि अवध के गाँवों में अंधविश्वास के रूप में मृत आत्माओं के संबंध में भी विश्वास किया जाता है। यही कारण है कि आज भी अवध के गाँवों में भूत, प्रेत, पिशाच, डाइन, चुड़ैल, जिन्न, ओझा, सोखा संबंधित अनेक कहानियाँ व किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। यदि देखा जाए तो ये अंधविश्वास और किंवदंतियाँ अवध के लोकजीवन में बहुत पहले से विद्यमान रहे हैं। अमृतलाल नागर ने अपनी किताब 'गदर के फूल' में 1857 की क्रांति के समय से प्रचलित अंधविश्वासों को बखूबी उतारा है। ये अंधविश्वास आज भी अवध के लोकजीवन में पूरी तरह से व्याप्त हैं। नागर जी ने अपनी किताब 'गदर के फूल' में एक रियासत के मैनेजर प्रतापबली का उदाहरण दिया है, जिनके बारे में यह अंधविश्वास व्याप्त था कि एक बार अंग्रेज सिपाहियों की नंगी तलवारों के बीच घिरे होने पर घर की देवी ने उनकी प्राणरक्षा की थी, ऐसे ही न जाने कितने अंधविश्वास उस समय अवध में विद्यमान थे। इस पर टिप्पणी करते हुए नागर जी लिखते हैं –

> "कुचला स्वाभिमान देवी–देवताओं के प्रति श्रद्धा जमाकर कैसे उठता है, इसका यह एक सुन्दर प्रमाण है (प्रताप बली की घटना)। अंग्रेजों से राजा भले हारे पर राजाओं की ईष्ट देवियों और देवताओं ने अंग्रेजों

को अपनी शक्ति का परिचय दे दिया। धर्म के नारे को लेकर उठने वाली क्रांति में ऐसी कथायें गढ़ जाना न तो अस्वाभाविक है न कठिन ही।"[11]

अवध के लोकजीवन की चर्चा करते समय वहाँ प्रचलित कथा–प्रणाली को छोड़कर कदापि आगे नहीं बढ़ा जा सकता है। ज्ञातव्य है कि अवध के गाँवों में बहुत प्राचीन काल से कथा कहने की प्रथा चली आ रही है और इससे समाज को बहुत लाभ पहुँचा है। अवध के गाँवों में प्रायः प्रत्येक वर्ष कथावाचक आते रहते हैं और गाँव वालों की रूचि के अनुसार रामायण, महाभारत व गीता तथा उपनिषद, पुराण की कथा सुनाते हैं। कथावाचक को कथा समाप्ति पर गाँव वालों द्वारा यथाशक्ति रूपया–पैसा, अन्न, वस्त्र दिया जाता है। रामनरेश त्रिपाठी अवध के लोकजीवन में प्रचलित इस कथा प्रणाली की बड़ी प्रशंसा करते हैं। इसकी उपयोगिता को स्पष्ट करते हुए वे एक जगह लिखते हैं –

"कथावाचक लोग मूल कथाओं के साथ और भी किस्से–कहानियाँ और सामयिक घटनाओं की बातें करते रहते हैं तथा बुराइयों की कड़ी आलोचना भी करते हैं। इससे गाँव के स्त्री–पुरुषों को अपने गुणों और दोषों की जानकारी होती रहती है और वे कथावाचक के थोड़े से परिश्रम से, थोड़े समय में इतना अधिक ज्ञान पा जाते हैं, जितना शायद वे गाँव की पाठशाला या स्कूल से न पाते।"[12]

---

[11] गदर के फूल – अमृत लाल नागर – पृ. 18
[12] ग्राम साहित्य (पहला भाग) – रामनरेश त्रिपाठी, पृ. 41

इसी प्रकार अवध के लोकजीवन की जो एक बहुत बड़ी विशेषता उभरकर सामने आती है, वह है – सहयोगिता की भावना। आज भी वहाँ छोटे–बड़े काम गाँव वाले आपस में मिलकर कर लेते हैं, जिसमें बाह्य व्यक्ति अथवा मजदूर की शायद ही आवश्यकता पड़ती है। आज भी अवध के गाँव में कोई शादी–ब्याह पड़ता है, तो सारा गाँव इसमें अपना योगदान देता है। अब चाहे यह श्रम के रूप में हो या आर्थिक मदद (न्यौता) के रूप में। इसी प्रकार गाँव में आलू–बोना हो, ईख बोना हो, धान की रोपाई करना हो अथवा किसी का छप्पर छवाना हो–गाँव वाले मिलकर सब काम सम्पन्न कर लेते हैं। अवध की लोक–संस्कृति में जड़ जमा चुकी इस सहभागिता की भावना को स्पष्ट करते हुए डॉ. विद्या विन्दु सिंह एक जगह लिखती हैं–

> "जहाँ की संस्कृति में मन खुला विस्तार पाता है, जहाँ आज भी पूरा एक गाँव एक गुहार में जुट जाता है, जहाँ खुशी और गम के मौके पर गाँव सिकुड़कर एक परिवार बन जाता है।"[13]

अवध के लोकजीवन में प्रकृति का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रकृति मानव की सहचरी है। प्रकृति के साथ मनुष्य का आर्थिक संबंध तो है ही, साथ ही अवध के लोकजीवन में प्रकृति पूजा का भी विधान है। आज भी अवध के गाँवों में तुलसी की पूजा, पीपल की पूजा तथा बरगद की पूजा का विधान है। अवध के क्षेत्र में 'आँवला–नौमी' के दिन आँवले की पूजा की जाती है। यह पूजा कार्तिक की नवमी को की जाती है। तुलसी की पूजा कार्तिक मास में कार्तिक पूर्णिमा के दिन होती है।

---

[13] लोकमानस – डॉ. विद्या विन्दु सिंह, पृ. 1

इस अवसर पर अवध के गाँवों में तुलसी का विवाह बड़ी धूमधाम से रचा जाता है, गीत गाए जाते हैं तथा आरती उतारी जाती है। इसी प्रकार अवध के लोकमानस में यह विश्वास है कि पीपल की छाया में सब देवता निवास करते हैं। आज भी अवध की स्त्रियाँ पीपल के तने में धागा लपेटकर पूजा करती हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अवध का लोकजीवन उल्लास से भरा है। यहाँ के लोग हर मौसम में, हर त्यौहार में तथा हर कार्यक्रम के दौरान अपने मनोरंजन का साधन ढूँढ़ लेते हैं। अवध के गाँवों में साल भर कभी कजरी, फगुआ की गूँज सुनाई देती है तो कभी आल्हा की तान सुनाई पड़ती है तो कभी विरहा हमारे हृदय को बेधता चला जाता है और तो और रामलीला, रासलीला तथा नौटंकी आदि अवध के लोकजीवन को सदा जीवंत व जीवन से सरोबार किए रहते हैं।

ख. आर्थिक जीवन

अवध के लोक साहित्य में साधारण जनता के सामाजिक जीवन के चित्रण के साथ ही आर्थिक जीवन का भी चित्रण मिलता है। अवध क्षेत्र में प्रचलित लोकगीतों में यहाँ का आर्थिक जीवन अत्यन्त सहज रूप में प्रतिबिम्बित है। ज्ञातव्य है कि सुख और दुख एक साथ विद्यमान होते हैं तथा दोनों में पारस्परिक घनिष्ठ संबंध भी होता है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो दोनों एक–दूसरे से संबंधित होते हैं। यही कारण है कि अवध के ग्रामीण जीवन में जहाँ एक ओर सुख और समृद्धि का सागर हिलोरें मार रहा है वहीं दूसरी तरफ घोर निर्धनता और दीनता का वीभत्स कंकाल भी दिखाई देता है। आज भी अवध के लोकगीतों में एक तरफ जहाँ हम सोने की थाली में भोजन करने व सोने के पात्र में जल पीने का उल्लेख पाते हैं वहीं दूसरी तरफ टूटी

हुई खाट और टपकते हुए छप्पर का मर्मस्पर्शी चित्रण भी हमारे मन को आकर्षित करता है।

ज्ञातव्य है कि 1947 ई. के पूर्व औपनिवेशिक शासन की नीतियों का प्रमुख उद्देश्य केवल अपना तात्कालिक हित साधना था। साधारण जन के सुख–दुख से उसका कोई लेना–देना नहीं था। यही कारण रहा कि समाज में जमींदार, साहूकार आदि मध्यस्थ वर्ग अस्तित्व में आये, जिन्होंने किसानों का जमकर शोषण किया। इस साम्राज्यवादी सामंतवादी व्यवस्था में अवध का किसान दोहरे–तिहरे शोषण के बीच फँसकर रह जाता है। अवध के लोकगीतों में किसानों की निर्धनता से संबंधित सैकड़ों गीत खोजे जा सकते हैं। डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने अवध क्षेत्र में प्रचलित एक ऐसे ही लोकगीत का उदाहरण दिया है, जिसमें एक निर्धन तथा दुखिया स्त्री वर्षा की बूँदों से टपकते अपने टूटे छप्पर को देख–देखकर परेशान है –

"टुटही मड़इहा बुनिया टपकइरे।
के सुधि लेबैं हमार?
जेठा छवावइ आपन बँगलवा,
देवरा छवावै चौपार।
हमरा मंदिलवा केऊन छवावै,
जेकर पियवा विदेश।।"[14]

ऐसी ही एक स्त्री, जिसका पति कमाने के लिए विदेश जा रहा है, विलाप करती हुई कहती है कि अब मेरे उजड़े हुए घर को कौन छवावेगा –

---

[14] लोकसाहित्य की भूमिका – कृष्णदेव उपाध्याय – पृ. 302

"पियवा जे चलेले पुरुब बनिजिरिया

कि केइ रे छइहें ना,

मोरा उजड़ल बगँलवा,

कि केइ छइहैं ना।"[15]

अवधी के इस गीत में भी यही निर्धनता का भाव प्रकट होता है।

गाँव की गरीबी का नंगा चित्रण हमें उस निरवाही के अवधी गीत में भी दिखाई देता है जिसमें एक बहन अपने प्यारे भाई से अपने कष्टों का वर्णन एक गीत के माध्यम से करती है। इस अवधी गीत का सारांश कुछ इस तरह से है – 'भैया मुझे नहीं मालुम कि कितना मन धान कूटना पड़ता है, कितना मन गेहूँ पीसना पड़ता है और कितने मन की रसोई बनानी पड़ती है। इसके बाद ढेर सारा बर्तन माँजना पड़ता है और दूर कुँए से पानी खींचकर लाना पड़ता है। आगे वह कहती है कि सब लोगों के खाने के बाद मेरे हिस्से में केवल एक छोटी सी रोटी आती है। इसमें से भी ननद के लिए कलेवा रखना पड़ता है। कुछ अंश देवर को देना पड़ता है। फिर कुत्ते और बिल्ली के लिए भी कुछ भाग जरूरी है। इसी तरह दूसरे के पहने गए कपड़े मुझे पहनने को मिलते हैं। निश्चय ही यह गीत ग्रामीण जनता की निर्धनता की पूर्णरूप से व्याख्या ही नहीं करता अपितु भाष्य का भी काम करता है। इसी प्रकार विवाह के अवसर पर गाये जाने वाले गीतों में भी अवध के किसानों की निर्धनता का वर्णन मिलता है।

---

[15] लोकसाहित्य की भूमिका – कृष्णदेव उपाध्याय – पृ. 302

परन्तु ध्यान देने की बात है कि अवध के लोकगीतों में सर्वत्र निर्धनता का ही वर्णन नहीं है अपितु कहीं–कहीं जनता की सम्पन्नता का भी अच्छा उल्लेख मिलता है। अवध के लोकगीतों में 'सोने के थारी में जेवना परोस्यों' तथा 'सोने की चौकी मोती झालरि हो हमारे ललना' ऐसे ही उदाहरण हैं जो अवध की निर्धनता से दूर वहाँ की आर्थिक सम्पन्नता को भी सामने लाते हैं। ज्ञातव्य है कि अवध के लोकगीतों में वस्त्र, आभूषण, मोतियों के हार तथा चंदन आदि से निर्मित अनेक वस्तुओं का प्रचुर मात्रा में उल्लेख मिलता है। भोजन के लिए विभिन्न प्रकार के मिष्ठानों का वर्णन भी इन लोकगीतों में मिलता है। ये वर्णन इस तथ्य के सूचक हैं कि इन लोकगीतों में वर्णित समाज धनी तथा समृद्ध था। डॉ. गणेशदत्त सारस्वत ने अपनी किताब में अवधी के एक ऐसे ही लोकगीत का उदाहरण दिया है, जिसमें छप्पन प्रकार के व्यंजन का संक्षेप में बड़ा बढ़िया वर्णन किया गया है –

"दार, भात, मैदा के फुलका, घी सोरठी के सोंध,
बरा, मुंगौरा, दहि, अधबोरे, लौंग, मिर्च अधिकाय।
कुंदरू और कतरा मटंवा रसाजै बेसन बरन बनाई।"[16]

यद्यपि अवध के इन लोकगीतों में समाज के ऐश्वर्यशाली जीवन का चित्रण मिलता है। परन्तु सामान्य तौर पर अवध के लोकजीवन को समृद्ध नहीं कहा जा सकता। भूमि के असमान वितरण ने अवध में अमीरी–गरीबी के बीच की खाई को अभी भी बरकरार रखा है। शोषण पर आधारित समाज व्यवस्था आज भी अवध में चली आ रही है। यद्यपि आजादी के बाद जमींदारी प्रथा का उन्मूलन कर दिया गया

[16] हिन्दी लोकसाहित्य (प्रथम खण्ड) – डॉ. गणेशदत्त सारस्वत, पृ. 226

था परन्तु यह स्वातन्त्र्योत्तर नवसमृद्ध वर्ग ग्रामोत्थान के मार्ग में आज भी सबसे बड़ा रोड़ा बना हुआ है। इसी का परिणाम है कि आज गाँवों में अमीर–गरीब की खाई बढ़ती जा रही है। इनके चलते सरकारी प्रयासों को सफलता नहीं मिल सकी है। विवेकी राय एक जगह लिखते हैं –

> "भूपति और भूमिहीन का आर्थिक अन्तर्विरोध न तो जमींदारी–उन्मूलन से और न ही लैण्ड सर्वे आपरेशन से मिटता दीखता है।"[17]

परन्तु यह भी सत्य है कि हाल के वर्षों में वहाँ जागरूकता आई है तथा सरकार के प्रयासों के चलते भी अवध के गाँवों में विकास की किरण दिखाई पड़नी शुरू हो गई है। अवध के गाँवों में आज परिवर्तन हो रहा है तथा विकास की चमक दिखाई दे रही है। इसका वर्णन अपनी किताब 'गदर के फूल' में अमृतलाल नागर ने भी किया है, जिन्होंने अवध क्षेत्र का व्यापक भ्रमण कर अपनी इस पुस्तक की रचना की थी। पहले के अवध और बदलते हुए आज के अवध को देखते हुए नागर जी ने आज के अवध का वर्णन 'भयारा' नामक अवध के एक कस्बे के माध्यम से बहुत सटीक ढंग से किया है –

> "नहर के किनारे–किनारे हम भयारा पहुँच गए। भयारा ग्राम का पंचायत घर एकदम आधुनिक शैली का बना हुआ है। बच्चों के खेलने के लिए चरखी, झूला वगैरह भी वहाँ लगे हैं। कच्ची झोपड़ियों के बीच में यह शहरी किस्म की इमारत एक नए युग का संकेत कर रही है। पन्द्रह–बीस वर्षों बाद पंचायत घर की यह इमारत पुरानी पड़ जाएगी,

---

[17] स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्राम जीवन – विवेकी राय – पृ. 117

गाँवों में नए मकान बन जाएंगे, बिजली पहुँच जाएगी, सड़के उम्दा और पक्की हो जाएंगी।'[18]

वास्तव में पंचवर्षीय योजनाओं तथा भारत सरकार द्वारा समय–समय पर चलाई जा रही कृषक सुधार संबंधी कार्यक्रमों का लाभ अवध के गाँवों को भी मिलने लगा है, जिसका परिणाम है कि अब यहाँ भी नलकूप, सहकारी बीज–भण्डार, उद्यान, स्कूल और अस्पताल जगह–जगह दिखाई पड़ने लगे हैं।

ग. राजनीतिक जीवन एवं राष्ट्रीय चेतना

अवध का राजनीतिक जीवन हमें वहाँ के लोकगीतों व कथाओं के माध्यम से ज्ञात होता है। ज्ञातव्य है कि अवध के किसानों में गाँधीजी के राजनीतिक क्षितिज पर उदय होने के पूर्व तक राजनीतिक चेतना का लगभग अभाव ही था। 19वीं सदी के पूर्व तक किसानों का शोषण स्थानीय शासक, जमींदार, तालुकेदार तथा सामंत ही कर रहे थे परन्तु आगे औपनिवेशिक सरकार के द्वारा हिन्दुस्तान पर जड़ जमाने के पश्चात् कंपनी सरकार भी इसमें शामिल हो गई। ऐसी स्थिति में किसानों के लिए स्थानीय शासकों व औपनिवेशिक सरकार के बीच विभेद करना कठिन हो गया। यही कारण है कि किसानों के बीच कंपनी सरकार के विरुद्ध वैसी घृणा अथवा आक्रोश उस समय नहीं उत्पन्न हुआ जैसा उदय होना चाहिए था। इस प्रकार अवध के किसान तात्कालिक परिस्थितियों के वशीभूत हो राजनीतिक दृष्टि से भावशून्य ही रहे। 1857 के गदर में भी हम देखते हैं कि गाँव के सामान्य जन इन बाह्य हलचलों से प्रायः दूर ही रहे। कम से कम कमलाकांत त्रिपाठी के उपन्यास 'पाहीघर' को पढ़ने से तो यही प्रतीत होता है।

---

[18] गदर के फूल – अमृतलाल नागर – पृ. 23

सर्वप्रथम किसानों के बीच राजनीतिक चेतना लाने का कार्य महात्मा गाँधी ने किया। गाँधी जी वे पहले राष्ट्रीय नेता कहे जा सकते हैं जिन्होंने एक राजनीतिक शक्ति के रूप में किसानों की शक्ति को पहचाना। यह उन्हीं का महान प्रयास था जिसके कारण कांग्रेस जैसी संस्था अपने संकुचित घेरे से बाहर निकलकर गाँवों में प्रवेश कर सकी और सही अर्थों में एक राष्ट्रीय स्वरूप को ग्रहण करने में सफल हो सकी। गाँधी जी ने चंपारन व पटेल ने खेड़ा जैसे किसान आन्दोलनों का सफल नेतृत्व प्रदान कर पहली बार किसानों को उनकी वास्तविक शक्ति से परिचित कराया। आगे सहजानन्द सरस्वती आदि किसान नेताओं ने किसानों के बीच राजनीतिक चेतना के प्रसार में महती भूमिका निभाई।

जहाँ तक अवध के किसानों के बीच राजनीतिक चेतना के प्रसार का प्रश्न है। यद्यपि छिटपुट घटनायें ऐसी मिलती हैं जिनमें तालुकेदारों के शोषण के विरूद्ध किसानों को संगठित करने का प्रयास किया गया था। परन्तु व्यापक स्तर पर अवध में राजनीतिक चेतना का प्रसार करने का श्रेय बाबा रामचंद्र को है, जो मूलतः एक महाराष्ट्रीयन ब्राह्मण थे तथा हाल ही में फिजी से लौटे थे और प्रतापगढ़ को अपनी कर्मभूमि बनाया था। अवध क्षेत्र के स्थानीय नेता झिंगुरी सिंह तथा सहदेव सिंह ने भी बाबा रामचंद्र का भरपूर सहयोग किया। इनके सहयोग से बाबा रामचंद्र ने पूरे अवध में घूम–घूम कर किसानों के बीच तालुकेदारों के शोषण के विरूद्ध राजनीतिक चेतना का प्रसार किया। उन्हांने अवध क्षेत्र में तालुकेदारों के शोषण के विरूद्ध राजनीतिक चेतना का प्रसार किया तथा अवध क्षेत्र में तालुकेदारों के गैर–कानूनी नजरानों और बेदखली के विरूद्ध जोरदार अभियान चलाया। बाबा रामचंद्र ने अवध किसान सभा

का गठन कर 14 मंत्रों की एक किसान प्रतिज्ञा तैयार करवाई तथा नाई–धोबी बंद का सफल आह्वान किया।

फिर, आगे की घटनाओं में हम देखते हैं कि यद्यपि बाबा रामचंद्र कांग्रेस की कुटिल चालों के चलते अपने उद्देश्य में अंततः असफल रहे परन्तु उन्होंने अवध की जनता को राजनीतिक दृष्टि से जागरूक बनाने का कार्य कर दिया था। इसी का परिणाम था कि बाद के दिनों में भी अवध के किसानों ने अपने अधिकारों की माँग के लिए समय–समय पर जोरदार आन्दोलन छेड़ा। फिर स्वाधीनता–आन्दोलन में भी अवध के किसानों की भूमिका को कमतर करके नहीं आंका जा सकता। गाँधी और नेहरू के आह्वान पर असहयोग एवं भारत छोड़ो आन्दोलन में अवध के किसानों ने जैसी हिस्सेदारी की, वह उनकी राजनीतिक चेतना को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है। स्वाधीनता के बाद भी जमींदारों व सामंती तत्वों का प्रभुत्व अवध क्षेत्र के लिए कोई नई बात नहीं थी, यही कारण है कि अवध की जागरूक जनता आजादी के बाद भी इनके विरूद्ध आवाज उठाती रही है।

अवध के लोकजीवन में राजनीतिक चेतना तथा अपने देश के प्रति चिंता यहाँ के घर–घर में प्रचलित लोकगीतों में भी दिखाई देती है, जिसे आज भी अवध का किसान बड़े उत्साह से गाता है। अवध के गाँवों में प्रचलित इन लोकगीतों को दो श्रेणियों में विभक्त करके देखा जा सकता है। एक तो वे जिन्हें 'वीर चरित्र' की संज्ञा दी गई है तथा दूसरे वे जिनमें विधर्मियों की क्रूरता, लम्पटता तथा भयंकर आतंक का वर्णन किया गया है। इन क्रूर सामंतों की लोलुप दृष्टि से अपने सतीत्व की रक्षा करने वाली सती–साध्वी नारियों का जीवनाख्यान इसी दूसरी कोटि के गीतों का प्रमुख प्रतिपाद्य है।

जहाँ तक अवध के लोकगीतों में आए वीर चरित्रों का प्रश्न है। ज्ञातव्य है कि ऐसे सैकड़ों वीरों की प्रशंसा लोकगीतों में मिलती है, जिसमें 1857 के वीर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ऐसा ही एक लोकगीत अवध के ग्राम अंचलों में आज भी गाया जाता है, जिसमें प्रतापगढ़ जिले के कालाकाँकर स्थान के विसेनवंशी राजा को अंग्रेजों के विरूद्ध घोर युद्ध करते वर्णित किया गया है –

"काले काँकर क बिसेनवा,

चाँदे गाड़े बा निसनवा।"[19]

इसी तरह प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के एक अमर सेनानी राना बेनी माधव सिंह के शौर्य का वर्णन अवध के लोकगीतों में मिलता है, जिसको गाकर आज भी अवध के किसान जोश से भर जाते हैं –

"राना बहादुर सिपाही अवध में, धूम मचाई मोरे राम रे।

लिखि–लिखि चिठिया लाट ने भेजी, आन मिलो राना भाई रे।

जंगी लिखत लंदन से मंगाइँ, अवध में सूबा बनाई रे।

जवाब सवाल लिखा राना ने, हमसे न करो चतुराई रे।

जब तक प्रान रहे तन भीतर, तुम कन खोद बहाई रे।"[20]

इसी प्रकार मुगलों के शासन काल में किस प्रकार इस देश में अशांति एवं अव्यवस्था थी, इसका भी चित्रण अनेक लोकगीतों में पाया जाता है। तुर्कों की विषय लोलुपता तथा निरंकुशता की गूँज अवध के इन लोकगीतों में खूब सुनाई देती है। किस प्रकार कुसुमादेवी ने मिर्जा साहब के अत्याचारों को सहकर भी अपने सतीत्व की

---

[19] लोकसाहित्य की भूमिका – कृष्णदेव उपाध्याय – पृ. 317

[20] हिन्दी लोक साहित्य (प्रथम खण्ड) – गणेश दत्त सारस्वत – पृ. 244

रक्षा की थी और अपने चरित्र की ओजस्विता को प्रकट किया था, यह आज भी अवध के गाँवों में बड़े उत्साह के साथ गाया जाता है –

"तनियक डोलिया थमाओ मिरजवा,
बाबा के सगरवा मुहवाँ धोइत हो ना।

× × × ×

एक घूँट पियली दुसरा घूँट पियली
तिसरे में गई है तराई हो ना।।
रोइ रोइ जालावा डलावै राजा मिरजा
फँसि आवै घोंघिया सेवरिया हो ना।।
मुहवाँ पटुका देके रोवे राजा मिरजा,
मोरे मुँह करिखा लगवलू हो ना।।
सिर पै पगड़िया बाँधि हँसै भैया बाबा,
दूनो कुल राखेऊ बहिनी कुसुमा हो ना।।"[21]

स्पष्ट है कि अवध क्षेत्र में आरम्भिक राजनीतिक चेतना शून्यता के पश्चात् गाँधी जी और बाबा रामचंद्र आदि के प्रयासों से राजनीतिक चेतना का विकास होता है जिसके फलस्वरूप यहाँ की जनता जमींदारों, तालुकेदारों व साम्राज्यवादी शक्तियों के विरूद्ध उठ खड़ी होती है। साथ ही साथ अवध के लोगों को अपने पूर्वजों की वीरता पर भी गर्व है, जिसकी अभिव्यक्ति उन्होंने लोकगीतों में किया है, जो निश्चय ही उनकी राष्ट्रीय चेतना की ओर संकेत करता है।

---

[21] लोकसाहित्य की भूमिका – कृष्णदेव उपाध्याय – पृ. 318

इस प्रकार हम देखते हैं कि अवध का लोकजीवन समग्र रूप में विशिष्ट है तथा अपनी सजीवता व रोचकता के कारण आज भी यह अपनी विशिष्टता व संस्कृति को बचाये हुए हैं। यद्यपि आधुनिक शिक्षा के प्रसार व पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से अवध के लोकजीवन की मिठास कुछ कम जरूर हुई है, लेकिन विविध अवसरों व त्यौहारों में यह लोकजीवन पूरे जीवन्त रूप में हमारे सामने उपस्थित हो ही जाता है।

■

सन्दर्भ–संकेत

1. लोकसाहित्य का अध्ययन – डॉ. त्रिलोचन पाण्डेय –पृ. 7 – लोकभारती प्रकाशन, 1970
2. हिन्दी लोक साहित्य (प्रथम खण्ड) – डॉ. गणेश दत्त सारस्वत – पृ. 15 – विद्याविहार, कानपुर, अगस्त 1981
3. ग्राम साहित्य (पहला भाग) – रामनरेश त्रिपाठी (संपा.) – पृ. 37 – हिन्दी मन्दिर, प्रयाग, जनवरी 1937
4. वही, पृ. 37
5. लोक साहित्य की भूमिका – कृष्णदेव उपाध्याय – पृ. 108 – साहित्य भवन प.–इला. 1970
6. ग्राम साहित्य (पहला भाग) – रामनरेश त्रिपाठी (संपा.) – पृ. 43 – हिन्दी मन्दिर, प्रयाग, जनवरी 1937
7. वही, पृ. 44
8. वही, पृ. 59
9. वही, पृ. 60
10. वही, पृ. 60
11. गदर के फूल – अमृत लाल नागर – पृ. 18 – राजपाल एण्ड संस, दिल्ली–2003
12. ग्राम साहित्य (पहला भाग) – रामनरेश त्रिपाठी – पृ. 41 – हिन्दी मन्दिर प्रयाग, जनवरी 1937

13. लोक मानस – डॉ. विद्या विन्दु सिंह, पृ. 1, मधु प्रकाशन, इला. 1984

14. लोक साहित्य की भूमिका – कृष्णदेव उपाध्याय – पृ. 302, साहित्य भवन, इला. 1970

15. वही, पृ. 302

16. हिन्दी लोक साहित्य (प्रथम खण्ड) – डॉ. गणेशदत्त सारस्वत – पृ. 226, विद्या विहार, कानपुर, अगस्त 1981

17. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्राम जीवन – विवेकी राय, पृ. 183 – लोकभारती प्रकाशन, इला. 1974

18. गदर के फूल – अमृत लाल नागर – पृ. 23, राजपाल एण्ड संस–दिल्ली 2003

19. लोक साहित्य की भूमिका – कृष्णदेव उपाध्याय – पृ. 117 – साहित्य भवन, इला. 1970

20. हिन्दी लोक साहित्य (प्रथम खण्ड) – गणेश दत्त सारस्वत – पृ. 244 – विद्या विहार, कानपुर, 1981

21. लोकसाहित्य की भूमिका – कृष्णदेव उपाध्याय – पृ. 318 – साहित्य भवन, इला. 1970

चतुर्थ अध्याय

अवध का लोकजीवन 'पाहीघर' उपन्यास के परिप्रेक्ष्य में

क. अवध के किसानों का सामाजिक जीवन
ख. अवध के किसानों का आर्थिक जीवन
ग. अवध के किसानों का राजनीतिक जीवन

1991 ई. में प्रकाशित कमलाकांत त्रिपाठी के उपन्यास 'पाहीघर' का एक बारगी अध्ययन करने पर ऐसा मालुम होता है कि उपन्यास के कथानक के केन्द्र में मुख्यतः 1857 का वह विद्रोह है जो कंपनी शासन की विभिन्न नीतियों के विरूद्ध भारतीयों द्वारा व्यापक स्तर पर लड़ा गया था। परन्तु उपन्यास का ध्यान से तथा विश्लेषणात्मक अध्ययन करने पर एक जो नवीन बात उभरकर आती है, वह है – अवध का लोकजीवन। वस्तुतः हम देखते हैं कि उपन्यास में विद्रोह है साथ ही साथ रचनाकार ने अवध के तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा लोकजीवन की एक पूरी की पूरी झाँकी ही उपस्थित कर दी है। वास्तव में उपन्यास 'पाहीघर' में दो कथायें लगभग समानान्तर रूप से चलती रहती हैं। एक कथा में कंपनी सरकार तथा नवाबों के बीच चल रही हलचलों व विद्रोह की घटनायें हैं तो दूसरी कथा में अवध का ग्राम जीवन अपनी पूर्णता में हैं जो बाहरी हलचलों से लगभग अलग अपने स्वाभाविक चाल में चलता रहता है। रचनाकार कमलाकांत त्रिपाठी ने अवध के इसी लोकजीवन को उसकी पूरी सम्पूर्णता में उपन्यास के पात्र शंकर, जैकरन, रूपा आदि के माध्यम से दिखाया है।

'पाहीघर' में रचनाकार ने अवध की पूरी की पूरी झाँकी ही प्रस्तुत कर दी है। अपनी रचनात्मक प्रतिभा के बल पर रचनाकार ने जिस तरह से अवध की प्रकृति, अवध जनों के व्यवहार तथा सबसे बढ़कर अवध की ठेठ अवधी ग्रामीण भाषा को अपनी रचना में प्रस्तुत किया है, वह अपने आप में उनको एक स्थापित रचनाकार के पद पर स्थापित करने के लिए पर्याप्त है। अवध की प्राकृतिक छटा तथा लोकभाषा

'पाहीघर' में किस तरह से व्यक्त हुई है, इस पर विचार करते हुए मधुरेश एक जगह उचित ही लिखते हैं –

> "इस प्रसंग में यह संकेत मिलता है कि 'पाहीघर' में अवध की प्रकृति कैसे और किस रूप में सब कहीं मौजूद है। चाँदनी रात या चमकती धूप में चाँदी सी चमकती गोमती, आम के टिपोर और महुए, की सोंधी नशीली गंध और नीम के झरते फूलों की हवा में दूर तक फैलती खुशबू। गहरी संवेदना में पगी 'पाहीघर' की भाषा ब्यौरों और प्रसंगों का गहरा प्रभाव छोड़ती है। विनाश और मृत्यु यहाँ केवल वर्णन भर नहीं है, सब कहीं वे गहरी टीस और अवसाद छोड़ते हैं।"[1]

स्पष्ट है कि रचनाकार कमलाकांत त्रिपाठी ने अपने उपन्यास 'पाहीघर' में तथा इसी की अगली कड़ी 'बेदखल' उपन्यास में भी अवध के लोकजीवन को 1857 के विद्रोह के साथ–साथ ही व्यापक वर्णन–विश्लेषण किया है, जिसे विस्तार से देखने–समझने तथा परखने की आवश्यकता है। 'पाहीघर' उपन्यास के माध्यम से हम निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत अवध के लोकजीवन को भली–भाँति जान–समझ सकते हैं।

क. अवध के किसानों का सामाजिक जीवन

भारत एक कृषि प्रधान देश है तथा प्राचीन काल से लेकर आज तक यहाँ की अधिकांश जनता कृषि कर्म से जुड़ी रही है। प्राचीन काल से ही समाज में किसानों को अन्न का उत्पादक होते हुए भी वह स्थान प्राप्त नहीं था, जिसका कि वह वास्तविक हकदार है। चाणक्य के 'अर्थशास्त्र में 'वार्त्ता'' के अन्तर्गत कृषि एक प्रमुख

---

[1] 1857 : निरन्तरता और परिवर्तन (उद्‌भावना) – अंक–75 – प्रदीप सक्सेना (संपा.) – पृ. 449

व्यवसाय था तथा शूद्रों को भी कृषि व्यवस्था के अन्तर्गत शामिल किया गया था। इस समय तक कृषकों की दशा ठीक थी, परन्तु 650 ई. से लेकर 1200 ई. तक अर्थात् मौर्योत्तर काल में सामंतवाद के उदय के साथ ही किसानों का ऐसा शोषण प्रारम्भ होता है, जो आज तक किसी न किसी रूप में जारी है। सामंती व्यवस्था के उदय के साथ ही अब भूमि का स्वामित्व समाज के उच्चवर्ग विशेषकर ब्राह्मण और क्षत्रिय तक सीमित हो गया। इसके अतिरिक्त, सामंती प्रथा के अन्तर्गत कृषक वर्ग को उनकी भूमि को छोड़कर अन्यत्र चले जाने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इसी प्रकार इस काल में कृषि व्यवस्था के अन्तर्गत शोषणकारी बिचौलियों का उदय हुआ और कृषकों पर भारी कर लगा दिया गया, जो कि उनके लिए असह्य था। इस प्रकार कृषि से जुड़े लोगों की हालत बद से बदतर होती चली गई। आगे चलकर सल्तनत और मुगलकालीन जमींदारी – जागीरदारी व्यवस्था के अन्तर्गत भी कृषकों की दशा में कोई सुधार नहीं हुआ। 1764 में बक्सर का युद्ध एक निर्णायक युद्ध साबित हुआ और कंपनी हिन्दुस्तान में सशक्त ढंग से स्थापित हो गई। औपनिवेशिक व्यवस्था स्थापित होने के बाद कंपनी शासन ने भारतीय कृषि व्यवस्था, जिसमें कृषकों को वर्ष में अपनी उपज का एक निश्चित हिस्सा शासक या स्थानीय सामंत वर्ग को देना होता था, का अंत कर भूराजस्व की नई प्रणाली शुरू की। जिससे भूराजस्व का आधार अंतिम उपज न होकर कुल कृषि योग्य जमीन होती। परन्तु अवध में पारम्परिक भू–राजस्व व्यवस्था ही कायम रही। सामंती–साम्राज्यवादी व्यवस्था के गुप्त समझौते और बाद के दिनों में महाजनी व्यवस्था के उदय होने से अवध का किसान तिहरे शोषण का शिकार हुआ। उपन्यासकार कमलाकांत त्रिपाठी इसी अवध किसान जीवन को केन्द्रीयता प्रदान करने वाले उपन्यासकार हैं।

ज्ञातव्य है कि साहित्य की अन्य विधाओं से हटकर उपन्यास विधा गतिशील इतिहास की प्रमुख हलचलों को जिस संवेदना के साथ पकड़ता है, वह दूसरी विधाओं में इतनी प्रभावी ढंग से अभिव्यंजित नहीं हो पाती है। हिन्दी उपन्यास परम्परा के अन्तर्गत प्रेमचंद ने किसान जीवन को केन्द्र बनाकर 'गोदान' सरीखे अनेक उपन्यासों की रचना की है तथा इसके माध्यम से प्रेमचंद ने सामंती–साम्राज्यवादी व्यवस्था के शोषण चक्र में पिसती किसान जीवन की जिस त्रासदी का वर्णन किया है, कमलाकांत त्रिपाठी के उपन्यास 'पाहीघर' तथा 'बेदखल', अवध के किसान जीवन के सन्दर्भ में उसी परम्परा की अगली कड़ी हैं। परन्तु यदि समग्र दृष्टिकोण को अपनाया जाये तो त्रिपाठी जी कहीं न कहीं प्रेमचंद से एक कदम आगे ही निकले जान पड़ते हैं क्योंकि प्रेमचंद साहित्य को पढ़ते हुए हमें किसान जीवन के अंतरंग चित्रों व लोकसंस्कृति के विविध पक्षों का अभाव स्पष्ट खटकता है। कमलाकांत त्रिपाठी इस कमी को अपने उपन्यास में पूरा ही नहीं करते अपितु किसान जीवन के यथार्थ को अवध के इतिहास और लोक–संस्कृति की भूमि से जोड़ते हुए नई बानगी के साथ चित्रित करते हैं। इनके यहाँ इतिहास तत्व, किसान जीवन ओर लोकसंस्कृति – तीनों का समवेत स्वर एक साथ सुनायी देता है।

ज्ञातव्य है कि जो रचनाकार अपने युगीन सत्य और मानवीय संवेदना से जितने सघन रूप से जुड़ा होता है, अपनी रचना में युगीन समाज को उतने ही प्रभावशाली ढंग से चित्रित कर पाता है। अवध के लोकजीवन और संस्कृति से गहरे रूप से जुड़े होने के कारण कमलाकांत त्रिपाठी ने अपने उपन्यासों में नवाबी शासन से लेकर ब्रिटिश शासन के विरूद्ध असहयोग आन्दोलन (1920–21 ई.) के काल तक

बनते–बिगड़ते ऐतिहासिक–राजनीतिक समीकरणों में अवध के किसान जीवन के सामाजिक पक्ष को उनकी विशिष्ट लोकसंस्कृति, परम्पराओं, अंधविश्वासों और सामाजिक विसंगतियों के साथ पकड़ा है।

ध्यातव्य है कि चूंकि कमलाकांत त्रिपाठी का दूसरा उपन्यास 'बेदखल' भी अवध के लोकजीवन को पूरी संजीदगी के साथ लेकर चलता है तथा कहीं न कहीं यह 'पाहीघर' की ही अगली कड़ी है अतः 'पाहीघर' उपन्यास के माध्यम से अवध के लोकजीवन व सामाजिक पक्ष की जानकारी प्राप्त करने के दौरान 'बेदखल' उपन्यास में उल्लिखित घटनाओं व कथानकों का उपयोग करना अनुचित न होगा।

कृषि व्यवस्था से जुड़े सभी लोग समान नहीं होते हैं, अपितु कहीं न कहीं उनमें भी सामाजिक–आर्थिक स्तर पर विभेद पाया जाता है। यह विभेद मुख्यतः आर्थिक स्तर पर होता है। त्रिपाठी जी के 'पाहीघर' और 'बेदखल' उपन्यास पढ़ने पर कृषक वर्ग का यह विभेद स्पष्ट हो जाता है। 'पाहीघर' व 'बेदखल' के आधार पर कृषक वर्ग को तीन श्रेणियों में विभक्त कर देखा जा सकता है –

(क) कृषि से जुड़े कुछ वर्ग ऐसे हैं, जो खेती का काम स्वयं नहीं करते। यद्यपि उनके पास काफी मात्रा में कृषि योग्य भूमि होती है तथा उन्हें विस्तृत अधिकार भी प्राप्त होते हैं। ये किसान प्रायः समाज में उच्च वर्ग व वर्ण से संबंधित होते हैं तथा समाज में ये उच्च राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक प्रभुत्व वाले होते हैं। 'पाहीघर' में दशरथपुर रियासत के तालुकेदार राय कुंजल सिंह और 'बेदखल' उपन्यास में वीरापुर रियासत की ठकुराइन सुल्तान कुँअर एवं जगतपाल सिंह इसी श्रेणी के चरित्र हैं।

(ख) दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत उन किसानों को शामिल किया जा सकता है जो इन तालुकेदारों के मालगुजार के रूप में कार्य करते हैं। इसके साथ ही साथ इस श्रेणी के लोग महाजन का कार्य भी करते हैं। जनता से सीधे जुड़े होने के कारण ये मालगुजार तालुकेदार के साथ किसानों के शोषण में बराबर के सहभागी होते हैं। 'पाहीघर' के शंकर दूबे एवं 'बेदखल' के पदारथ तेवारी इसी श्रेणी के किसान हैं।

(ग) तीसरी श्रेणी के अन्तर्गत वे किसान आते हैं, जिनकी आर्थिक दशा अत्यन्त निम्न होती है। ये सीमान्त कृषक की श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। कृषक व्यवस्था के अन्तर्गत सर्वाधिक शोषण इसी वर्ग का होता है। इस वर्ग के कृषकों से तात्पर्य उस जनसाधारण वर्ग से है जो खेत में अपने ही कृषि यंत्रों का प्रयोग करके तथा केवल अपने ही परिवार के सदस्यों के श्रम का उपयोग करके स्वयं ही कृषि कार्य करता है। सामान्यतः इस वर्ग के किसान के पास अपनी जमीन नहीं होती और यह वर्ग बड़े भूस्वामी के जमीन पर मजदूरी करता है। निम्न जाति से संबंधित ये किसान प्रायः बहुस्तरीय विषमता ओर असमानता को नैसर्गिक मानकर चलते हैं। संभवतः यही कारण है कि यह वर्ग शोषण व विषमता को अपनी नियति मानकर इसे दूर करने एवं इसके कारणों के प्रति विद्रोह की बात सोच भी नहीं पाते। 'पाहीघर' में जैकरन और 'बेदखल' में सूचित इसी वर्ग के प्रतिनिधि चरित्र हैं।

'पाहीघर' का ध्यान से अध्ययन करने पर निष्कर्ष निकलता है कि इसके केन्द्र में मुख्य रूप से यही तीसरी श्रेणी के किसान हैं। परन्तु ध्यान रखने की बात है कि

चूंकि रचनाकार ने अपने उपन्यास में एक विशेष ऐतिहासिक परिवेश का चित्रण किया है, जिसके लिए निश्चय ही अनेक वर्ग तथा श्रेणी के लोगों की आवश्यकता है। अतः वर्गीय सीमाओं से परे जाते हुए उपन्यासकार ने मध्यवर्गीय किसान जीवन को भी ओझल नहीं होने दिया है। अपनी वस्तुनिष्ठ दृष्टि के चलते कमलाकांत त्रिपाठी जी ने जहाँ एक तरफ अपने उपन्यास में उच्चवर्ग के जीवन में आने वाले सामाजिक ह्रास को चित्रित किया है –

> 'गुरुदत्त ने लीक पर से नजर हटाकर दोनों बेटों की ओर देखा। शंकर विवाह की उम्र बहुत पहले ही पार कर गया था। ब्राह्मणों में पंडों–पुरोहितों की कोई प्रतिष्ठा नहीं होती। राज्याश्रय गया, जमीन–जायदाद गई। ऐसे में कौन पूछता! और सबसे बड़ी बात, रूखतुख नहीं बैठा। सो शंकर बिना ब्याहा ही रह गया। दुर्बली की अभी उम्र है। अभी होंठ के ऊपर स्याह रेखें भी नहीं उभरीं। नई जगह शायद कुछ–तालमेल बैठे, रिश्ते का जुगाड़ हो तो अंकुर फूटे और शाखा आगे बढ़े। सब ऊपर वाले के अधीन है।''[2]

वहीं दूसरी तरफ वे ऊँचे वर्ण में पैदा होने के विभिन्न लाभों को बतलाने में भी नहीं चूकते हैं। इस संबंध में रचनाकार गुरूदत्त दूबे का उदाहरण सामने रखता है। घोर दरिद्रता में जीने को विवश गुरूदत्त को यदि दशरथपुर रियासत के तालुकेदार रायकुंजल सिंह से 40–50 बीघे खेत, 150–200 बीघे जंगल, आम और महुवे का बाग, बसँवारी और पाहीघर के सामने पक्का कुँआ प्राप्त होता है तो उसके पीछे

---

[2] पाहीघर – कमलाकांत त्रिपाठी, पृ. 14–15

केवल पं. गुरुदत्त का आतिथ्य भाव और शंकर का लगन ही काम नहीं करता अपितु कहीं न कहीं उनका उच्च वर्ण का होना भी उन्हें इन लाभों को दिलाने में अहम भूमिका निभाता है –

> "देखते–देखते शंकर ने गृहस्थी का सारा काम सँभाल लिया। तालुकेदार से रब्त–जब्त बढ़ाकर पूरे गाँव का लगान वसूल करने लगे। रूपया भी सूद पर उधार देने लगे। जल्दी ही वे तालुकेदार के आसामी न रहकर गाँव के मालगुजार और महाजन बन गए।"[3]

ऊँचे वर्ण में पैदा होने का एक लाभ यह भी था कि सामाजिक दृष्टि से उसकी स्थिति समाज के अन्य वर्णों की अपेक्षा काफी उच्च थी। अतः समाज में वह व्यापक अधिकारों का तो उंपभोग करता ही था साथ ही साथ समाज में प्रतिष्ठा तथा सम्मान का अतिरिक्त लाभ प्राप्त करता था। 'पाहीघर' में इसी को स्पष्ट करते हुए पं. गुरूदत्त के संदर्भ में एक जगह रचनाकार स्पष्ट कहता है –

> "लाला परमेश्वरी दयाल के अलावा बसौली में कोई और घर ऐसा नहीं था जहाँ गुरूदत्त का उठना–बैठना हो पाता। मुख्य बस्ती जिसे पाहीघर वाले 'बसौली गाँव' कहते थे एक छोटे पुरवे की शक्ल में थी जिसमें लाला के घर के अलावा आठ घर कुरमी, छः घर अहीर और एक–एक घर लोहार, कुम्हार, धुनिया और चमार थे। पाहीघर के पिछवाड़े जंगल से लगा हुआ छोटा सा अहीर टोला अलग से था। लाला के घर को छोड़कर बाकी सभी छप्परों वाले थे। किसी–किसी

---

[3] वही, पृ. 30

की दीवारें भी फूस की बनी थीं। पाहीघर से कोई वहाँ पहुँचता तो लोग पैलगी करने के बाद झुककर खड़े हो जाते। न कोई बैठने के लिए कहता, न कोई इसकी आशा करता था।"[4]

ज्ञातव्य है कि 1857 के विद्रोह के पहले तक अवध में मध्ययुग से चली आ रही पारम्परिक जमींदारी व्यवस्था ही लागू थी। परन्तु 1857 के विद्रोह के पश्चात् बदलती परिस्थितियों के तहत 'अवध लगान कानून' पास हुआ, जिसके तहत जमींदार वर्ग को भूमि का मालिकाना हक मिल गया जबकि छोटे काश्तकारों के जमीन पर से अधिकार समाप्त कर दिए गए। यद्यपि अवध के किसानों की दशा में सुधार लाने के लिए कालान्तर में 1886 में संशोधित अवध लगान कानून पारित हुआ, फिर भी किसानों की सामाजिक – आर्थिक दशा में कोई सार्थक बदलाव नहीं हुआ। औपनिवेशिक कालीन अवध को केन्द्र बनाकर लिखे अपने उपन्यास में कमलाकांत त्रिपाठी ने सामान्यतः अवध के किसानों का सामाजिक जीवन दो रूपों में सामने लाया है –

1. किसान जीवन से बाहर के वर्गों के साथ सामाजिकता का स्वरूप।
2. अपनी बिरादरी एवं आंतरिक जीवन में किसानों का सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन।

ज्ञातव्य है कि उपनिवेशवादी व्यवस्था में राज्य और समाज में स्पष्ट अलगाव होता है। राज्य पर साम्राज्यवादी शक्तियों का प्रभुत्व रहता है और सामाजिक जीवन में सामंत वर्ग का। इस तरह इस व्यवस्था में किसानों का प्रत्यक्ष सामाजिक संबंध

---

[4] पाहीघर – कमलाकांत त्रिपाठी – पृ. 30

साम्राज्यवादी वर्ग से न होकर सामंत, भूस्वामी और मध्यस्थ वर्ग से होता है। इस प्रकार समाज में निचले स्तर पर जीविका बसर करने वाले किसान की स्थिति इस उच्च सामंत वर्ग के अधीनस्थ एवं उपाश्रित वर्ग की होती है। 'पाहीघर' में इसे हम स्पष्ट रूप से देख सकते हैं –

> "मरने से पहले रूपा की माँ बीच–बीच में पाहीघर के भीतर साफ–सफाई, सार–सँभाल कर दिया करती थी। कभी–कभार, साल–खाँड में जब रायसाहब यहाँ आते थे तो खाना बना देती थी और छोटा–मोटा काम कर देती थी। अब यह काम रूपा के जिम्मे था। रायसाहब ने जैकरन को पाहीघर के पास ही दो बीघे जमीन बिना लगान के दे दी थी।"[5]

हम देखते हैं कि पहले अधीनस्थ कृषक का प्रत्यक्ष संबंध तालुकेदार व जमींदार से था। परन्तु कालान्तर में चलकर एक मध्यस्थ वर्ग का उदय होता है। पाहीघर का प्रमुख पात्र शंकर दूबे इसी का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार अब मध्यस्थ वर्ग के अस्तित्व में आने के बाद भूमिहीन कृषक वर्ग का प्रत्यक्ष संबंध शंकर दूबे जैसे मालगुजारी करने वाले वर्ग से स्थापित होता है। उपन्यास 'पाहीघर' में हम देखते हैं कि रायकुंजल सिंह द्वारा पाहीघर का पट्टा प्राप्त करने के बाद जैकरन जैसे सीमान्त किसान की स्थिति अधीनस्थ की हो जाती है –

> "एक अरज है महराज.....ऊ.....कोनेवाला खेत हम कई साल से जोतते–बोते आ रहे हैं। रायसाहब ने बहुत पहले हमें दिया था। सबको

---

[5] पाहीघर – कमलाकांत त्रिपाठी– पृ.–21

मालूम है। मैं तो उसमें धान बोने ही जा रहा था। आज देखा, छोटे महराज उसमें भी मेड़ बँधवा रहे हैं।"[6]

इस प्रकार यहाँ मध्यस्थ वर्ग के उदय होने के साथ ही उच्चवर्ग तथा भूमिहीन कृषक वर्ग के बीच के संबंधों की स्पष्ट जानकारी मिलती है। उपन्यास में यह संबंध और भी तब स्पष्ट रूप में खुलता है जब एक जगह जैकरन पं. गुरुदत्त से विनती करते हुए कहता है –

"महराज, आप ठहरे बड़वार आदमी। आपसे हम क्या बराबरी करेंगे। ... अरे दो बीघे जमीन से आपका क्या हो जाएगा। लेकिन हमारा तो पेट मारा जाएगा। हम हमेशा से पाहीघर की सार–सँभाल करते आए हैं। अब भी करेंगे। हम कहीं पीछे तो हटे नहीं हैं।"[7]

सच कहा जाये तो केवल जैकरन ही नहीं अपितु अवध के बहुसंख्यक किसान वर्ग की स्थिति इसी उपाश्रित वर्ग की है, जो अपने श्रम के बदले, बड़े भूस्वामियों द्वारा दिए गए खेती के जोत से अपनी जीविका का निर्वाह करता है। इससे अवध के किसान वर्ग के बीच सामाजिक भेद और विषमता का सहज ज्ञान होता है। राजनीतिक उथल–पुथल एवं नए भूस्वामी वर्ग के अस्तित्व में आने से सबसे अधिक सामाजिक जीवन इन्हीं का प्रभावित होता है और यही वर्ग सामंती–साम्राज्यवादी शोषण का सर्वाधिक शिकार होता है। इस तरह अवध के किसानों का सामाजिक जीवन पूर्णतया स्वायत्त नहीं है अपितु कहीं न कहीं भूस्वामी एवं आर्थिक हितों से जुड़कर है। उपन्यास में आए निम्न प्रसंगों के माध्यम से भी इसे देखा जा सकता है–

---

[6] पाहीघर – कमलाकांत त्रिपाठी – पृ. 22–23
[7] वही, पृ. 23

"पाहीघर में रहने वाले कारिंदे को पहले ही खबर कर दी गई थी। उसने पिछवाड़े के अहीरों को पकड़कर घर की साफ–सफाई करवा दी थी।"[8]

इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर आए प्रसंग के आधार पर भी दोनों के बीच के संबंधों को देखा जा सकता है –

"शंकर सिवान का चक्कर लगाकर लौटे तो शाम हो रही थी। पश्चिम में हल्के सुरमई बादलों के आरपार लाल पट्टी खिंची हुई थी। इसका मतलब अभी दो–एक दिन बारिश के आसार नहीं है। आज चलकर मजूर गिन लेते तो कल से काम शुरू हो जाता। लौटकर उन्होंने कुएँ पर हाथ–पैर धोए और लाठी उठाकर गाँव की ओर चल दिए। कुर्मियान और अहिरान का चक्कर लगाकर लौटे तो पिछवाड़े के अहीर–टोले की ओर मुड़ गए। इन लोगों को भी सहेज दें कि सुबह होते ही काम पर आ जाएँ।"[9]

परन्तु ऐसा नहीं है कि गाँव में उच्च वर्ग तथा निम्नवर्ग के बीच केवल 'शोषक–शोषित' पर आधारित संबंध ही था। वास्तव में कमलाकांत त्रिपाठी ने 'पाहीघर' में ग्रामीण यथार्थ के अनुरूप अवध के किसान जीवन के उस सामाजिक पक्ष का भी वर्णन किया है जहाँ किसान और मध्यस्थ भूस्वामी वर्ग के मध्य केवल अमानवीय आर्थिक–राजनीतिक संबंध ही नहीं अपितु मानवीय संबंध भी अभी कहीं न कहीं शेष है। इस संबंध में हम 'पाहीघर' और 'बेदखल' दोनों को एक साथ रखकर अध्ययन कर सकते हैं। लेखक ने अपने इन दोनों उपन्यासों में ऐतिहासिक विकास

---

[8] वही, पृ. 15
[9] वही, पृ. 31

के क्रमिक चरण में, एक ही परिवार के दो सदस्य शंकर दूबे तथा सालिकराम के माध्यम से उन मानवीय संबंधों को चित्रित किया जो उपनिवेशवादी चरण में भी पूर्णतया विलुप्त नहीं हुए हैं। 'पाहीघर' के शंकर दूबे यदि जैकरन की जमीन को हड़पकर उसकी अकाल मौत का कारण बनते हैं तो दूसरी तरफ 'बेदखल' के सालिकराम अपने निजी स्वार्थ के लिए नहीं अपितु निम्नवर्गीय किसान सुचित के खेत की रक्षा के लिए पदारथ तेवारी जैसे महाजन से विरोध मोल ले लेते हैं।

बहुत क्षीण ही सही पर इस मानवीय संबंध के कारण 'बेदखल' का सुचित कालान्तर में पदारथ तेवारी का अनाज न लूटे जाने की बात मान लेता है। यह दोनों वर्गों के बीच मानवीय संबंधों का स्पष्ट प्रमाण है।

परन्तु यह भी ध्यान रखने की बात है कि दोनों वर्गों के बीच इस प्रकार के मानवीय संबंध छिटपुट ही मिलते हैं, ज्यादातर दोनों वर्गों के बीच के संबंधों का आधार शोषण पर ही टिका हुआ था। संभवतः यही कारण है कि कमलाकांत त्रिपाठी ने अवध के किसानों के सामाजिक जीवन की उस सामान्य प्रवृत्ति का यथार्थ चित्रण किया है जिसमें उच्चवर्ग अपने से निम्नवर्ग का शोषण करता है। 'पाहीघर' में रायकुंजल सिंह द्वारा शंकर से जैकरन की पंचायत की बात पूछने (जिसका उद्देश्य निःसन्देह शंकर के ऊपर एक प्रकार दबाव बनाना था।) के बाद अर्थगर्भित रूप में यह कहना कि "चन्दा जो दिया है न, उसे कहीं से तो भरना पड़ेगा। और कौन जाने अभी कितना और देना पड़े। इस साल हर मालगुजार को वसूली के ठेके की रकम थोड़ी बढ़ानी होगी। ..... आप समझ गए न?"[10] यह दर्शाता है कि कुलीन सामंतवर्ग पीढ़ियों से निम्नवर्ग का शोषण करता रहा है।

---

[10] पाहीघर – पृ. 82

संसार के किसी भी देश अथवा स्थान पर समाज में नारी की महती भूमिका होती है। भारतीय किसान जीवन भी इससे अछूता नहीं रहा है। पुरुष प्रधान भारतीय समाज की यह सबसे बड़ी विडम्बना कही जा सकती है कि परिवार की धुरी और उत्पादन में सक्रिय हिस्सेदारी के बाद भी नारी की दयनीय स्थिति बनी हुई है। वैदिक काल के पश्चात् सूत्रकारों व स्मृतिकारों ने नारियों को पुरुष के अधीन करते हुए उनपर जो अनेक सामाजिक नियंत्रण लगाये, उसे आज भी भारतीय नारियाँ ढोने को विवश हैं। कंपनी शासन की स्थापना के पश्चात् भी नारियों की दशा में कोई परिवर्तन देखने को नहीं मिलता, क्योंकि अंग्रेज भारतीय सामाजिक परम्पराओं व रूढ़ियों में हस्तक्षेप करने से डरते थे। यही कारण रहा कि नारियाँ सदैव शोषित होती रहीं। भारतीय समाज व्यवस्था के इस परम्परागत स्वरूप और औपनिवेशिक राज्य व्यवस्था के दबाव से उत्पन्न द्वन्द्व, तनाव और विडम्बना का यथार्थ चित्रण कमलाकांत त्रिपाठी के उपन्यासों में हुआ है। पुरुष प्रधान समाज में नारी का शोषण कई स्तरों पर तथा कई प्रकार से होता है। कमलाकांत त्रिपाठी के उपन्यासों में इसे सहज ही देखा जा सकता है। इस संबंध में वीरेन्द्र वरनवाल एक जगह उचित ही लिखते हैं–

> "उपन्यासकार ने दिखाया है कि जहाँ गाँव और अवध की रैयत दोहरे शोषण और दमन की चक्की में पिसती है, वहीं आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से दुर्बल नारी तिहरे शोषण एवं दमन की शिकार है। उपनिवेशवादी तंत्र के तले छटपटाता देश, उसके भीतर बेरहम सामंती व्यवस्था में पिसती–मिट्टी मेहनतकस वर्ग की नारी–तीनों की तस्वीरें

कथाकार ने रूपा, दुर्बली की बहू, बेलना भक्तिन के माध्यम से अत्यन्त ही सशक्त और मार्मिक रूप से उभारा है।"[11]

यदि हम त्रिपाठी जी के दोनों उपन्यासों अर्थात् 'पाहीघर' और 'बेदखल' से संदर्भ लें तो ज्ञात होता है कि इतिहास के वृहत्तर संदर्भ में अवध के किसानों की उत्पीड़न गाथा रचते हुए उपन्यासकार ने सामंती समाज की पितृसत्तात्मक व्यवस्था में 'पाहीघर' की रूपा और बेलना भक्तिन तथा 'बेदखल' में पदारथ तेवारी की छोटी बहू की त्रासदी के द्वारा नारी की उस दलित स्थिति को रेखांकित किया है, जिसमें जीने को वह अभिशप्त है।

पुरुष प्रधान समाज में एक नारी की क्या स्थिति हो सकती है। इसकी सहज कल्पना हम 'पाहीघर' की रूपा के माध्यम से कर सकते हैं। उपन्यास पढ़ने पर ऐसा आभास होता है कि रूपा की श्रम क्षमता व शारीरिकता पुरुष समाज की विवादित सम्पत्ति है। विवाहित रूपा को उसका ससुर जगेसर सामाजिक प्रतिष्ठा और परम्परा की आड़ में, केवल इसलिए अपने घर वापस ले जाना चाहता था कि – "रूपा डीलडौल वाली औरत थी। कोई रोग–व्याधि नहीं छू गई थी उसे। शरीर में दो औरतों जितनी ताकत थी। जो काम शुरू करती उसे खत्म करके ही दम लेती। ऐसी कद काठी वाली कमाऊ बहू को कोई क्यों छोड़ता।"[12] दूसरी तरफ रूपा के पिता जैकरन को उसका ससुराल छोड़कर उसके पास रहना इसलिए नहीं अखरता था कि – "माँ–बेटी मिलकर उसमें इतनी अच्छी कमाई करती थी कि जैकरन को फिक्र

---

[11] 'हंस' पत्रिका – जुलाई 1992 – पृ. 80 (वीरेन्द्र वरनवाल)

[12] पाहीघर – पृ. 68

करने की कोई जरूरत ही नहीं थी।"[13] यही कारण है कि जैकरन इसके लिए पंचायत द्वारा लगाये गए दण्ड और बिरादरी से बाहर कर देने की भी परवाह नहीं करता। सामंती चरित्र वाले शंकरदूबे से रूपा का पिता जैकरन इस रूप में भिन्न नहीं है कि शंकर पाहीघर के पास के खेत देने के एवज में रूपा का शारीरिक शोषण करते हैं और जैकरन इस शारीरिक शोषण से भली–भाँति परिचित होने के बाद भी खेत पर अपना कब्जा बनाए रखने के लिए न केवल शोषण में भागीदार बनता है अपितु रूपा के गर्भवती होने के बाद भी सामाजिक प्रतिष्ठा की दुहाई को स्वीकार करते हुए समझौते का रास्ता अपनाता है –

> "जैकरन अनाज से भरी ठौरी लेकर पाहीघर से निकला और अपने घर जाने लगा, तो शंकर उसकी पीठ पर हाथ धरकर धीरे से बोले" – रूपी को समझाना। ..... कुछ कर–कराके छुट्टी पा ले। खर्चे–खर्चे की चिंता मत करना। तुम्हारी इज्जत हमारी इज्जत है।"[14]

कुल मिलाकर पुरुष प्रधान समाज में नारी की स्थिति मात्र पुरुषों के स्वार्थ साधन को सिद्ध करने तक ही सीमित है। रचनाकार कमलाकांत त्रिपाठी ने 'पाहीघर' में नारी के प्रति पुरुषवादी समाज की उपयोगितावादी दृष्टि तथा बेलना भक्तिन के माध्यम से समाज में नारी की त्रासद, अधिकार विहीन एवं दलित स्थिति का बहुत कटु वर्णन किया है –

> "बेलना भक्तिन ब्राह्मणी थी। बाल विधवा। वैसे तो वह दाई का काम करती थी लेकिन मशहूर भी हमल गिराने के लिए। ..... शादी हुई थी,

---

[13] वही, पृ. 21
[14] वही, पृ. 296

गौना नहीं गया था, तभी विधवा हो गई। ससुराल में कोई पुछत्तर नहीं था, इसलिए यहाँ रहने लगी थी। ..... वक्त की मार झेलते–झेलते वह बेलना से बेलना भक्तिन बन गई। खेती–बारी जो कुछ थी वह पट्टीदारों ने हड़प ली।"[15]

पुरुष प्रधान समाज में स्त्रियों, विशेषकर निम्न जाति की स्त्रियों का शोषण उच्च वर्ग के पुरुषों द्वारा होना आम बात है। जिसके चलते गाँव–गाँव में गर्भ गिरवाने की घटनायें होती ही रहती हैं। त्रिपाठी जी ने समाज में फैले इस अनाचार का वर्णन यों किया है –

"सिद्धीपुर बड़ा गाँव था। बड़ी–छोटी जाति के लोग वहाँ एक साथ बसे थे। ऊँच नीच होता ही रहता था। एक तरह से बेलना ने गाँव की नाक सँभाल रखी थी।"[16]

ज्ञातव्य है कि असुरक्षा और उत्पीड़न के धरातल पर सभी वर्गों की नारियों की अन्तर्वेदना समान है, किन्तु सामंती समाज में नारी की दुर्दशा लाचारगी की हद तक है, जिसमें वह अन्याय व तिरस्कार के बदले जुबान न खोलकर सिर्फ आँसू बहाकर रह जाती है। दुर्बली के पाहीघर न आने के बाद निर्दोष बहू की क्या हालत होती है, इसका वर्णन करते हुए उपन्यासकार त्रिपाठी जी लिखते हैं –

"शाम तक घर में हहान–खहान मच गया। बूढ़ी रोती जाएँ और बहू को कोसती जाएँ। निगोड़ी ने उसे रोक क्यों नहीं लिया? इतने दिनों बाद वह फौद से लौटकर आया था, उसे फिर क्यों बाहर जाने दिया?

---

[15] वही, पृ. 297
[16] वही, पृ. 298

बहू को तो जैसे काठ मार गया था। एकदम गुमसुम हो गई थी। न रोती थी, न बोलती थी। कोई कुछ कहता तो बस टुकुर–टुकुर ताकती थी।"[17]

पुरुष प्रधान भारतीय समाज में नारी हर दृष्टि से शोषित–उत्पीड़ित है। समाज के इस महत्वपूर्ण वर्ग के प्रति लेखक की गहरी संवेदना है। यही कारण है कि वे स्त्रियों के दैनिक जीवन की घटनाओं व कार्यकलापों का रोचक वर्णन करते हैं। साथ ही साथ त्रिपाठी जी समाज में व्याप्त अनेक परम्पराओं व रूढ़ियों को भी बताते चलते हैं। समाज में प्रचलित इन्हीं रूढ़ियों व ढकोसलों का एक उदाहरण हमारे सामने तब स्पष्ट होता है जब एक स्त्री सैनिकों से भयभीत होकर गिर पड़ती है और तब भी वह अपने शरीर के अन्य अंगों को ढकने की परवाह न करके ससुर से अपना मुँह छिपाने का प्रयत्न करती है –

"इतने सवारों को एकसाथ दौड़कर आते देख दुल्हन घबड़ा गई। उसने तेज–तेज कदम चलकर आगे बढ़ने की कोशिश की, लेकिन घूँघट के कारण ज्यादा दूर नहीं चल पाई। साथ का आदमी घोड़ों से उसे बचाने के लिए पीछे दौड़ा। तब तक घोड़े वहाँ पहुँच चुके थे। उनके सपाटे में आकर वह लड़खड़ाई और खेत में गिर गई। दुर्बली ने देखा, उसका पैर उघड़ गया था लेकिन घूँघट को कसकर थामे थी। अधेड़ आदमी थोड़ी दूर पर मुँह फेरे खड़ा था। उसका ससुर होगा या जेठ।"[18]

---

[17] पाहीघर – पृ. 234
[18] वही, पृ. 272–273

परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि कमलाकांत त्रिपाठी ने अपनी रचनाओं में चरित्रों और घटनाओं की योजना द्वारा जिस कलात्मकता के साथ समाज में व्याप्त पर्दाप्रथा आदि रूढ़ियों की ओर संकेत किया है, उतनी ही कुशलता से वह ग्राम–जीवन में पति–पत्नी के बीच प्रेमजन्य संवाद के दुर्लभ क्षणों को भी उपस्थित करते हैं –

> "बैल चले गए तो कुएँ के पास खाली लोटा लिए हुए दो औरतों के साए दिखे। दोनों कुछ देर वहाँ खड़ी रहकर बातें करती रहीं। फिर एक पिछवाड़े की ओर चली गई और दूसरी घूँघट काढ़े दुर्बली की चारपाई की बगल से गुजरी और जाते हुए उनके एक पैर का अँगूठा धीरे से दबाती गई। वे इशारा समझकर उठे और बहू की कोठरी में चले गए।"[19]

समाज में नारी की त्रासदी को रेखांकित करने के साथ–साथ कमलाकांत त्रिपाठी पुरुष–नारी के बीच के कहे–अनकहे संबंधों को तो रेखांकित करते ही हैं इसके साथ ही साथ वे नारी सौन्दर्य का वर्णन करना भी नहीं भूलते हैं। परन्तु नारी सौन्दर्य का वर्णन करते हुए त्रिपाठी जी कहीं भी अश्लीलता का प्रयोग अपनी रचना में नहीं आने देते। वस्तुतः नारी सौन्दर्य के प्रति उपन्यासकार की दृष्टि मांसल होते हुए भी कामुक कतई नहीं है। रूपा के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए त्रिपाठी जी कतई नहीं भटके हैं –

> "कारिंदे ने जिसकी ओर मुखातिब होकर कहा वह जवानी की ओर बढ़ती एक गदराई सी लड़की थी। .....शंकर को लगा वह उन्हीं की

---

[19] पाहीघर, पृ. 293

ओर देख रही है। कुछ देर के लिए उनकी निगाह अटक गई। सुडौल शरीर और टिप–टिप करता, भरा हुआ गोल चेहरा। उन्हें लगा शायद वह हल्का से मुस्कराई है।''[20]

इसी प्रकार जब क्लारा सात समंदर पार से हिन्दुस्तान आ रही थी तो अवध के गाँवों में उसे इसी तरह के अल्हड़ नारी सौन्दर्य के दर्शन हो रहे थे, जो बाहरी हलचलों से परे अपने में खुश ग्रामीण युवतियों के सौन्दर्य को एक विशेष रूप प्रदान कर रहे थे। ऐसे ही एक स्थान पर जब क्लारा की गाड़ी एक गाँव के समीप कुएँ के पास आकर रूकी तो वहाँ की युवतियों का सौन्दर्य वर्णन रचनाकार कुछ इस प्रकार करता है –

''गाड़ी गुजरी तो औरतों ने घूँघट तिरछा कर उसकी ओर देखा, एक–दूसरे को ठेलकर हँसी और फिर पानी निकालने और ढोने में लग गई। एक औरत लम्बा घूँघट काढ़े, एक घड़ा कमर पर और दो सर पर रखे आराम से बस्ती की ओर जा रही थी। ऊपर से नीचे तक ढकी होने के बावजूद क्लारा को लगा उसकी सुडौल, स्वस्थ देह में एक नृत्य की सी लचक थी।''[21]

कमलाकांत त्रिपाठी ने 'पाहीघर' में केवल मानवीय सौंदर्य का ही वर्णन नहीं किया है वरन् उनकी तूलिका प्रकृति चित्रण व वर्णन को लेकर भी पूर्णतया सजग है। 'पाहीघर' में अनेकों जगह हमें प्रकृति के मनोहारी चित्रण का प्रयोग मिलता है, जिससे अवध की पूरी की पूरी छवि हमारे समक्ष उपस्थित हो उठती है।

---

[20] पाहीघर, पृ. 16
[21] पाहीघर, पृ. 128

"पाहीघर के बाईं ओर महुए के बड़े–बड़े पेड़ थे। जिस साल महुआ आने को होता, बसंत बीतते–बीतते सारी पत्तियाँ सूखकर झड़ जातीं। फिर पेड़ों की टहनियाँ भूरे रंग के कूचों से ढक जातीं। कुछ दिन तक पूरे पेड़ पर कूचे ही कूचे नजर आते और पत्तियाँ न होने से वह सूखा हुआ ठूँठ सा लगता। फिर कूचों की फुनगियाँ तोड़कर हल्के–पीले फूल निकलने लगते।"[22]

वास्तव में किसान जीवन का प्रकृति से घनिष्ठ संबंध होता है क्योंकि अपनी खेती–बारी के लिए किसान मूलतः प्रकृति पर ही निर्भर रहता है। इसी निर्भरता के चलते कृषक समाज प्रकृति के प्रति अपनी कृतज्ञतापूर्ण भावनाओं की अभिव्यक्ति भिन्न–भिन्न लोक–विश्वासों के माध्यम से करता है।

ज्ञातव्य है कि कमलाकांत त्रिपाठी ने कृषक संस्कृति के चित्रों के साथ ही साथ अवध की लोकसंस्कृति और सांस्कृतिक रीति–रिवाजों का भी विस्तार से वर्णन किया है। बिसुन की लड़की की शादी और पाहीघर के दुर्बली की शादी एक ही समय एक ही पखवारे में पड़ी थी। इस शुभ अवसर पर पाहीघर में चल रहे विभिन्न कार्यक्रमों तथा प्रथाओं के माध्यम से रचनाकार ने अवध की लोकसंस्कृति को हमारे समक्ष रखा है। यही नहीं इन अवसरों पर जो लोकगीत गाए जाते हैं, उन्हें भी उपन्यास में दिया गया है –

पूरब–पच्छिम एक सागर बाबा, पुरइन हालर देइ।

तेहि सगरे दुलहे नहावै, त पूछहि दुलहिना एक बात।

---

[22] वही, पृ. 63

केकर अह्या तू नतिया अ पुतवा, कउनी बहिनिया कऽभाइ।

राजा दशरथ कर नतिया अ पुतवा, बहिनी सुभदरा कऽ भाइ।[23]

× × ×

"राम लखन मिलि घोड़वा पलानैं, कि बन कऽ अहेरेहि जाँइ।

जाइके उतरे जनक के दुअरवा, सिय जी रखावहिं फुलवारी।"[24]

इसके साथ ही साथ उपन्यास में अवध में विवाहोत्सव के समय के विभिन्न आयोजनों तथा प्रथाओं जैसे – दीवारों पर हथेली की छाप, दरवाजे पर नवग्रह के खाँचे का निशान और दरवाजे पर गड़े बाँस आदि का चित्रण किया गया है। चूंकि दुर्बली की तो शादी हो गई थी लेकिन शंकर कुँवारे ही थे। अतः इसे पूर्णतः प्रदान करने के लिए उपन्यासकार ने रूपा को शंकर के सामने ला खड़ा कर दिया है। इस संबंध में चंचल चौहान एक जगह सही ही लिखते हैं –

"दुर्बली की शादी तो हो गई, लेकिन शंकर कुँवारे ही थे, सो उपन्यासकार ने रूपा से उनका प्रेम संबंध अंकित करके प्लाट को और अधिक सामाजिक रंगत दे दी।"[25]

गाँव में अंधविश्वास कोई नई बात नहीं है। अवध के तो प्रायः प्रत्येक गाँव में कोई न कोई अंधविश्वास सदियों से चला आ रहा होता है। यही कारण है कि रचनाकार अपने उपन्यास 'पाहीघर' में भी लोकजीवन की चर्चा के क्रम में इन अंधविश्वासों की चर्चा करना कतई नहीं भूलता। ग्रामीण समाज में फैले अंधविश्वास

---

[23] पाहीघर, पृ. 48

[24] वही, पृ. 48

[25] अनभै साँचा : 1857, बगावत का दौर – मुरली मनोहर प्रसाद सिंह – (संपा.) – पृ. 253

को जैकरन के मृत्यु की घटना से जोड़कर देखा जा सकता है, जो मरकर एकदिन ग्रामदेवता के स्तर को प्राप्त करता है। मरने से पहले उसका गाँव के लोगों से यह कहना ही उसे ग्रामदेवता बना देता है और अंधविश्वास के चलते उसके 'चौरा' पर फूल, सिंदूर, जल आदि चढ़ाया जाने लगता है –

> "देखो भैया, मैं जा रहा हूँ ..... यह चोला छोड़कर जा रहा हूँ। पाहीघर के ऊपर। पहले बेटी की जान ली, फिर खेत छीन लिया। ..... देखना, निपात हो जाएगा उसका। ढीठ हो जाएगा पाहीघर। मेरी बात मानना। पाहीघर के बाभनों से कोई नाता न रखना। खान–पान, आना–जाना, पैलगी–असीस कुछ नहीं। उनके खेत की घास, पेड़ की पत्ती तक न छूना। जहर खाकर मर रहा हूँ। मालूम है, परेत बनूँगा। हमेशा यहीं, पाहीघर के आसपास मँडराऊँगा। ..... बिरादरी में जो मेरा कहना नहीं मानेगा ..... देखना क्या करता हूँ उसका ....."[26]

धर्म को 'पीड़ित जन की कराह' का रूपक रचते हुए उपन्यासकार ने यह दिखाया है कि वर्णाश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत सामंती व्यवस्था की यातना के प्रतिरोध का स्वर धार्मिक मुहावरे में ही मुखर हो पाता है। जो जैकरन जीते जी पाहीघर के सामंती अत्याचार के समक्ष बेबस और लाचार था, मरने के बाद – "जिस समय पाहीघर में रोना–पीटना मचा था, अहिरान के लोग जैकरन के चौरे पर गुड़हल के फूल, लँगोटी, खड़ाँऊ और सिखरन चढ़ा रहे थे। दुर्बली की मौत की खबर ने जैकरन को प्रेत से ऊपर उठाकर ग्राम–देवता की श्रेणी में रख दिया था।"[27]

---

[26] पाहीघर, पृ. 326
[27] वही, पृ. 330

इस तरह हम देखते हैं कि विपन्नता के काल्पनिक प्रतिशोध और परपीड़क सुख का जो यथार्थ चित्रण त्रिपाठी जी ने 'पाहीघर' में किया है, वही वस्तुतः रचनाकार की औपन्यासिक कला क्षमता का सशक्त प्रमाण है। त्रिपाठी जी के इसी औपन्यासिक कला क्षमता को रेखांकित करते हुए एक स्थान पर वीरेन्द्र यादव लिखते हैं –

> "वे लोकमानस, लोकविश्वास, धार्मिक कर्मकाण्ड व रूढ़ियों को उसके संदर्भ से काटकर पिछड़ेपन व अंधविश्वास की शब्दावली से खारिज नहीं करते, बल्कि उसे लोक प्रतिरोध का संदर्भ देते हुए नई अर्थवत्ता प्रदान करते हैं।"[28]

इस प्रकार 'पाहीघर' का समग्र अवलोकन, अध्ययन तथा विश्लेषण करने पर यह सहज ज्ञात होता है कि उपन्यासकार कमलाकांत त्रिपाठी लोक संस्कृति, किसान जीवन के चित्र, प्रकृति वर्णन, रूढ़ियों, अंधविश्वासों, लोकगीतों और अवधी के मेलजोल से अवध अँचल और ग्रामीण जीवन का खाँटी चित्र अपने उपन्यास 'पाहीघर' में उपस्थित करते हैं। वास्तव में यह उपन्यासकार कमलाकांत त्रिपाठी की रचनात्मक प्रतिभा और उनकी सृजनशीलता तथा लोकजीवन के प्रति व्यापक अनुभव ही था, जिनके नाते वे 1857 के विद्रोह के दौरान के दहकते–सुलगते समय को आधार बनाकर लिखे गए कथानक के बावजूद अवध के तत्कालीन लोकजीवन को पूरी सफलता के साथ प्रस्तुत कर पाने में सफल हो पाते हैं।

---

[28] कथा (फरवरी–2000) – वीरेन्द्र यादव – पृ. 167

ख. अवध के किसानों का आर्थिक जीवन

कमलाकांत त्रिपाठी अपने उपन्यासों में अवध के किसानों के विभिन्न सामाजिक पहलुओं को छूते हुए उनके आर्थिक पहलू को भी जाँचते–परखते चलते हैं। उनके 'पाहीघर' उपन्यास को पढ़ने पर हमें अवध के किसानों के आर्थिक दशा का तद्युगीन औपनिवेशिक काल में व आज के संदर्भ में भी पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। त्रिपाठी जी की एक महत्वपूर्ण विशेषता जो उन्हें औरों से पृथक करती है और उनकी रचना को शुष्क होने से बचाती है वह यह है कि इन्होंने अपने दोनों उपन्यासों अर्थात् 'पाहीघर' व 'बेदखल' में अवध के किसान जीवन की आर्थिक व्यवस्था को आँकड़ों एवं तथ्यों के माध्यम से नहीं अपितु नई औपनिवेशिक शासन व्यवस्था में भूस्वामी वर्ग और आम रिआया के आपसी संबंध, जीवन पद्धतियों और संस्कारों के माध्यम से चिह्नित किया है। ज्ञातव्य है कि पारम्परिक भारतीय सामाजिक संरचना की यह विशेषता रही है कि यहाँ आर्थिक और सामाजिक जीवन स्तर परस्पर अविच्छिन्न रूप से संबद्ध हैं। सामाजिक पदानुक्रम में निचले स्तर पर रहने वाले छोटे काश्तकार वर्ग एवं आम रैयत की आर्थिक दशा सदा से सोचनीय रही है। उच्च वर्ग द्वारा अपने स्वार्थ के लिए बनाई गई विशिष्ट सामाजिक–संरचना के कारण ही जीविका का साधन एक होते हुए भी 'पाहीघर' के शंकर और जैकरन के सामाजिक–आर्थिक जीवन के बीच भारी अन्तर विद्यमान है। 1765 ई. तक आते–आते हिन्दुस्तान में औपनिवेशिक शासन ने अपने पैर मजबूती से जमा लिए थे, जिसका सर्वाधिक लाभ समाज के उच्चवर्ग को मिला। यही कारण है कि शंकर दूबे जैसे मध्यस्थ वर्ग निरन्तर समृद्ध होते गए जबकि दूसरी तरफ जैकरन जैसे अवध के

न जाने कितने छोटे व सीमान्त काश्तकारों को जमीन के साथ–साथ जीने के अधिकार से भी वंचित होना पड़ा।

ज्ञातव्य है कि मध्यकाल से चली आ रही सामंती व्यवस्था का रूपान्तरण जब औपनिवेशिक व्यवस्था में हुआ, तब नई व्यवस्था लागू होने से जमींदार और किसान के बीच नए संबंध स्थापित हुये। सामंतवादी व्यवस्था में जमींदारी प्रतिष्ठा की चीज थी तथा जमींदार वर्ग की कुछ मर्यादायें होती थीं। प्रायः उसका अपने रैय्यत के साथ एक अपनत्व का भाव रहता था। परन्तु आगे चलकर औपनिवेशिक व्यवस्था के अन्तर्गत जमींदारी अब प्रतिष्ठा की नहीं अपितु लाभ की वस्तु बन जाती है। अब इस औपनिवेशिक व्यवस्था में जमींदारों का अस्तित्व साम्राज्यवादियों की कृपा पर निर्भर रहता है। चूंकि औपनिवेशिक व्यवस्था के अन्तर्गत किसानों की आर्थिक व्यवस्था विश्व अर्थव्यवस्था से जुड़ जाती है, अतः इसमें अधिकाधिक लाभ कमाने की प्रवृत्ति का विकास होने लगता है। इस प्रकार किसान–जमींदार के मध्य आर्थिक संबंध ही सर्वोपरि हो जाता है, जिससे औपनिवेशिक व्यवस्था के अन्तर्गत किसान दोहरे–तिहरे शोषण का शिकार होता है।

कमलाकांत त्रिपाठी के दोनों उपन्यास परस्पर जुड़े हुए हैं। अतः दोनों का साथ–साथ अध्ययन करके हम अवध के किसानों के आर्थिक जीवन को भली–भाँति समझ सकते हैं। लेखक ने 'पाहीघर' तथा 'बेदखल' में जैकरन और सुचित जैसे प्रतिनिधि चरित्र के माध्यम से मुख्यतः 1847 ई. अर्थात् नवाबी शासन काल (वाजिद अली शाह) से लेकर 1857 के विद्रोह से उत्पन्न परिस्थितियों के पश्चात् स्थापित नई भू–व्यवस्था तक नजराना, मालगुजारी, कर्ज और सबसे बढ़कर बेदखली से त्रस्त और

बेहाल अवध के किसानों की दुर्दशा को गहरी इतिहास दृष्टि के द्वारा यथार्थपरक अंकन किया है। यद्यपि भारत में छोटे काश्त वाले किसानों की स्थिति सदा से सोचनीय रही है परन्तु अवध के किसानों की दुर्दशा का जो मूल कारण था वह है – अवध की तद्युगीन राजनीतिक अव्यवस्था और अस्थिरता। 1764 ई. में बक्सर का युद्ध हुआ। इसमें कंपनी के विरूद्ध त्रिपक्षीय संगठन ने हिस्सा लिया। जिसमें अवध भी शामिल था। परन्तु यह गुट कंपनी सरकार से पराजित हुई। तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए ईस्ट इण्डिया कंपनी ने अवध को पराजित करने के बाद भी ब्रिटिश भारत में विलय नहीं किया अपितु मध्यवर्ती राज्य (Buffer State) के रूप में अवध का अस्तित्व कायम रखा। आगे चलकर 1765 और 1803 की संधि की शर्तों के फलस्वरूप ईस्ट इण्डिया कंपनी ने अवध के वैदेशिक शक्तियों को कम कर दिया तथा विभिन्न कानूनों के माध्यम से उसके आंतरिक मामलों में खुलकर हस्तक्षेप करने लगी। अवध के अंतिम ग्यारहवें नवाब वाजिद अली शाह के 1847 में सुल्ताने आलम बनने तक दोहरी शासन–व्यवस्था के फलस्वरूप अवध में पूर्णतः अराजकता और अव्यवस्था का माहौल व्याप्त था –

> "यह नवाबी का जमाना था और अवध की बागडोर नवाबी वंश के ग्यारहवें (और अंतिम) शासक मुहम्मद वाजिद अली शाह के हाथ में थी। ..... सुल्तानपुर में ही नाजिम वाजिद अली खाँ रहता था जिसके जुल्मों के इतने चर्चे थे कि नवाब का नाम बचाने के लिए लोग उसे अहमद अली कहते थे।"[29]

---

[29] पाहीघर – पृ. 19

अराजकता के इस माहौल में सबसे ज्यादा शोषित और उत्पीड़ित अवध की आम रिआया थी। उपन्यासकार कमलाकांत त्रिपाठी ने अपने उपन्यास में अनेक जगह फौज की क्रूरता और लूटपाट से भयभीत किसानों का चित्रण किया है। नवाबी काल में किसान की प्रजा होने की नियति को त्रिपाठी जी ने अत्यन्त वस्तुनिष्ठ रूप में रेखांकित किया है –

> "पहले नवाबी जमाने में, जब गाँव में फौज आती थी, उसका एक ही मतलब होता था। कहने को तो वह लगान वसूली के लिए आती थी लेकिन उसका असली मकसद लूटपाट करना होता था। फौज आने की खबर सुनते ही पूरा गाँव खाली हो जाता था। जो जहाँ होता, वहीं से भाग निकलता था। बाँसों के झुरमुट में, अरूस के पौधों के पीछे करौंदे और मकोय की झाड़ियों में, बाग में इकट्ठी की गई पत्तियों के ढेर में, जिसको जहाँ जगह मिलती, वहीं भागकर छिप जाता। सिपाही झोपड़ों में घुसकर पहले तो दूध–दही के मटके साफ करते। फिर खलिहान और झोपड़ों में जो अनाज मिलता, उसे बैलगाड़ियों और ऊँटों पर लाद लेते। जाते समय झोपड़े भी गिरा जाते। कभी–कभी तो खड़ी फसल भी रौंदकर नष्ट कर देते। फौज का आना गाँव के लिए पूरी बरबादी थी।"[30]

वास्तव में अवध के निम्नवर्गीय किसानों की आर्थिक दशा औपनिवेशिक शक्तियों से जमींदारों–भूस्वामियों के गुप्त गठबंधन के चलते अत्यन्त खराब थी तथा

---

[30] वही, पृ. 201

वे किसी तरह ही अपना गुजारा चला पाते थे। अपनी क्षुधापूर्ति के लिये अवध के ये निम्नवर्गीय सीमांत किसान जमींदारों–तालुकेदारों की सेवा–टहल और खेतों में मजदूरी करके ही चलाते हैं। 'पाहीघर' में शंकर का उदाहरण प्रत्यक्ष है –

> "रायसाहब ने जैकरन को पाहीघर के पास ही दो बीघे जमीन बिना लगान के दे दी थी।"[31]

इसी प्रकार अन्यत्र एक जगह जब गोरा साहब भूमि का नया बंदोबस्त करता है तब शंकर दूबे साहब से जैकरन को जमीन देने के मुद्दे पर कहते हैं –

> "हुजूर, हमारे यहाँ का दस्तूर है, मजदूरी के बदले कभी–कभी जोतने–बोने के लिए खेत दे देते हैं। रायसाहब ने भी इसे ऐसे ही दिया था, हमने भी ऐसे ही दिया है। ..... लेकिन खेत का पट्टा हमारे पास है।"[32]

विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होता है कि अवध के किसानों की इस उपाश्रित स्थिति का कारण अवध में पहले से जड़ जमायी पारम्परिक जमींदारी व्यवस्था थी। जबकि इसके बरख्श सरयूपार का इलाका 1801 ई. की संधि के तहत कंपनी सरकार के अधीन आ गया था, जिससे वहाँ कंपनी सरकार के द्वारा जमीन का पक्का बंदोबस्त कर दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि वहाँ जमींदारों की छीना–झपटी थोड़ी कम हो गई। परन्तु चूंकि अवध में दोहरा शासन ही लागू रहा, अतः वहाँ किसानों के शोषण में तनिक भी कमी नहीं आई। इसके अलावा अंग्रेजों ने नई चाल चलते हुए हिन्दू–मुस्लिम के बीच साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देकर चंदे आदि

---

[31] वही, पृ. 21
[32] वही, पृ. 104

के रूप में शोषण के अनेक नए तरीके इजाद किए, जिसका लाभ कंपनी सरकार और तालुकेदार वर्ग दोनों को मिला। रचनाकार ने इन दोनों वर्गों की चालों को बड़ी गंभीरता से पकड़ा है। उपन्यास में एक जगह उन्होंने शेख मुनव्वर अली के माध्यम से इसका पर्दाफाश किया है –

> "अब यह चन्दे का ही मसला लीजिये। राय साहब ने वैरागियों को देने के नाम पर वसूली तो बढ़ा दी, लेकिन उसमें से कितनी रकमें चन्दे में जाएगी और कितनी रायसाहब की जेब में, इसका हिसाब कौन करेगा। होशियार लोग तो हर मौके का फायदा उठाते हैं। पिसती तो है गरीब रिआया।"[33]

शेख मुनव्वर अली अंग्रेजों की चाल को भली–भाँति समझता है। वह यह जानता है कि फिरंगी हिन्दुस्तान में जो कुछ कर रहे हैं, उनके पीछे कहीं न कहीं इनका स्वार्थ छिपा हुआ है। आपसी लड़ाई–झगड़े में अंग्रेज कैसे लाभ उठाते हैं इसी को स्पष्ट करते हुए एक स्थान पर शेख शंकर दूबे से कहता भी है –

> "उधर फिरंगी मुल्क हड़पने की ताक मे बैठे हैं, इधर हम आपस में जिहाद छेड़ रहे हैं। फिरंगी यही तो चाहते थे कि कोई ऐसा बवाल हो कि बादशाह मजबूर होकर खुद–ब–खुद उनकी झोली में आ गिरे।"[34]

अवध के किसानों की आर्थिक विपन्नता का सहज ज्ञान शंकर दूबे के इस कथन से हो जाता है – "यही तो बात है। खाली लगान तो रिआया दे नहीं पाती, अब यह बढ़ोत्तरी कहाँ से भरेगी।"[35]

---

[33] पाहीघर – पृ. 84–85
[34] वही, पृ. 85
[35] वही, पृ. 85

7 फरवरी 1856 को कंपनी सरकार ने अव्यवस्था के आधार पर अवध का अधिग्रहण कर लिया तथा 'वहाँ अपनी जड़ें मजबूत कर ली। अपनी जड़े मजबूत करने के लिए उसने सरकार के खैरख्वाहों को प्रश्रय दिया। शंकर दूबे जैसे मालगुजार को यदि सरकार का प्रश्रय मिला तो इसके पीछे सबसे बड़ा कारण था –

"मालगुजार का एक भाई कंपनी बहादुर की फौज में है, सरकार।"

"वैरी गुड। तुम सरकार का खैरख्वाह है। फिर कोई फिक्र नहीं। .....

मुंशी लिखो और मुंशी ने लिखा – 'खतौनी नं. 107 – एक चाहपोख्ता, हनुमान सिंह जमींदार, कब्जा–शंकर वल्द गुरूदत्त दूबे।"[36]

अवध के कंपनी शासन के अधीन आने के बाद जिस नए भूस्वामी वर्ग का उदय हुआ, उसके फलस्वरूप अब छोटे काश्तकारों को बड़े भूस्वामियों व जमींदारों की दया पर छोड़ दिया गया। "वेल.....। तुम्हारे पास कोई सबूत नहीं है, मैन। और हम मालगुजार की इज्जत करते हैं। वह तुम्हारा हक नहीं लेगा। तुम दोनों मिलकर समझौता कर लो।"[37] परन्तु ज्ञातव्य है कि उपनिवेशवादी समाज में जहाँ भूस्वामी से छोटे काश्तकारों के आर्थिक संबंध पूँजीवादी और सामाजिक संबंध सामंतवादी होते हैं वहाँ इस तरह के समझौते कोई मायने नहीं रखते। समझौते की विवशता और आर्थिक विपन्नता को हम शंकर–जैकरन संवाद के माध्यम से भली–भाँति जान सकते हैं – "घर में कौन भण्डार रखा है कि दस बार बोएँगे। बड़ी मुश्किल से तो एक बार के लिए जुटाया था। ..... और अब पिछड़ भी तो बहुत गया है।"[38] फिर यह आर्थिक

---

[36] वही, पृ. 103
[37] वही, पृ. 105
[38] वही, पृ. 296

विपन्नता ही है कि जैकरन, शंकर द्वारा हो रहे अपनी बेटी रूपा के यौन शोषण को देखकर भी चुप है और अंत में खेत से बेदखल होने के बाद जब जैकरन अनशन पर बैठा था तो उसकी बहू का यह कहना कि – "देखो रूपा के बाबू, मेरा कहना मानो। बच्चों के मुँह की ओर देखो। उनका क्या होगा? अरे खेत मालिक का था, उन्होंने ले लिया। इसमें कोई क्या करेगा? सबके पास खेत थोड़े ही होता है। जैसे सबकी चलती है, हमारी भी चलेगी। हम भी मेहनत–मजूरी करेंगे। भगवान ने दो–दो हाथ दिए हैं। किसी तरह पेट भी भरेंगे।"[39] निश्चय ही अवध के किसानों की विपन्नता और शोषण का एक भयावह चित्र उपस्थित करता है। वास्तव में अवध के किसान के रूप में जैकरन का अपनी दयनीयता और लाचारी के प्रति आत्मस्वीकार न सिर्फ मानवीय संवेदना के लुप्त होने की स्थिति को बताता है अपितु व्यवस्था की अमानवीयता को भी दर्शाता है। साथ ही साथ ही शोषण के विभिन्न स्तरों को परत दर परत उधेड़ता चलता है।

इस तरह उपन्यास 'पाहीघर' का समग्र अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि रचनाकार कमलाकांत त्रिपाठी ने नवाबी शासन से लेकर ईस्ट इण्डिया कंपनी के शासन तक अवध के सीमांत किसानों की दयनीय आर्थिक–दशा और जीवन को जटिल भारतीय सामाजिक संरचना के संदर्भ में चित्रित किया है, जिसमें शासन व्यवस्था के प्रत्येक नए रूप में आर्थिक विषमता बढ़ती गई है और साथ ही साथ अवध का किसान और भी विपन्न और शोषित होता चला गया है।

---

[39] वही, पृ. 325

ग. अवध के किसानों का राजनीतिक जीवन

ज्ञातव्य है कि भारत में औपनिवेशिक ब्रिटिश शासन के दौरान गाँधी जी के राजनीतिक परिदृश्य पर उदय होने से पूर्व तक एक राजनीतिक शक्ति के रूप में किसानों की भूमिका प्रायः गौड़ थी। यह गाँधी ही थे, जिन्होंने कांग्रेस के कार्यक्रमों को गाँवों से जोड़ा और किसानों के बीच राजनीतिक चेतना का प्रसार किया। प्राचीन काल से ही भारत में किसानों को राजनीतिक कार्यों से पृथक रखा गया था। एकमात्र द. भारत में संगमकालीन वेल्लार कृषकों को छोड़ दिया जाये तो इतिहास में हमें ऐसा कहीं भी कोई प्रमाण नहीं मिलता है, जिससे यह सिद्ध हो सके कि कृषकों को भी कोई राजनीतिक शक्ति प्राप्त था। इसी का परिणाम रहा कि भारत में अन्न का उत्पादक होते हुये भी कृषकों की दशा सदैव दयनीय रही। छोटे–मोटे कृषक विद्रोहों को छोड़ दिया जाये तो सामंती व्यवस्था में भूमि के असमान वितरण एवं सामाजिक स्तर भेद ने किसानों की भूमिका उत्पादक–वर्ग के रूप में निर्धारित करने के बाद वैसी कोई स्थिति आने ही नहीं दी कि वे अपने राजनैतिक अधिकारों के प्रति सचेत हों। सच तो यह है कि भारतीय एवं विदेशी कुलीन वर्ग के लिए आम रिआया सदैव से ही उनके स्वार्थों–लाभों और उपभोग के साधन ही बने रहे। भारतीय किसान इन कुलीनों–सामंतों के शोषण में इतनी बुरी तरह से पिस जाता है कि राजनीतिक चेतना तथा शक्ति प्राप्त करना तो दूर उसकी सारी ऊर्जा जीवन–निर्वाह के साधनों को जुटाने में ही व्यय होती रही। उस विषम आर्थिक–सामाजिक स्तर भेद ने उनकी प्रतिरोधी और प्रतिक्रियावादी चेतना को नियतिवादी स्थिति में ला दिया और उनका दयनीय जीवन के प्रति उमड़ता–घुमड़ता असंतोष युगीन तंत्र के प्रति व्यक्त न होकर नियतिवादी स्वरूप धारण कर लिया। 'पाहीघर' में हम देखते हैं कि नवाबी शासन

काल से लेकर अवध के अधिग्रहण और 1857 के महाविद्रोह तक के ऐतिहासिक घटनाक्रम में अवध के किसान न ही कहीं राजनीतिक रूप से सक्रिय हैं और न ही इनमें किसी राजनीतिक चेतना के उन्मेष की झलक ही देखने को मिलती है। निश्चय ही इसके पीछे मूलकारण शक्ति और पौरुष से हीन अवध के नवाब वाजिद अली शाह में राजनीतिक दृढ़ता का अभाव होना रहा है।

ज्ञातव्य है कि किसान का शासकवर्ग से अनिवार्य तथा घनिष्ठ संबंध होता है। व्यापारी के रूप में भारत में प्रवेश कर ईस्ट इण्डिया कंपनी ने अपने छल–कपट व युद्ध के माध्यम से लगभग सारे हिन्दुस्तान को अपने नियंत्रण में ले लिया। अपनी नई भूमिका में कंपनी क्रमशः विभिन्न संधियों के माध्यम से और रेजीडेंट की नियुक्ति के द्वारा अवध के नवाब को निष्क्रिय करती गई। इस प्रकार अनेक संधियों से बँधे होने के कारण नवाब लाचार और राजनीतिक दृष्टि से पूर्णतया उदासीन हो जाता है। इस लाचारी और राजनीतिक उदासीनता – "बहुत कम लोग ऐसे थे जिन्हें इस बात से वास्ता था कि इससे आगे क्या हो रहा है कि लखनऊ में बैठे बादशाह के दिमाग में इस मुल्क के बारे में क्या ख्याल उभर रहे हैं, कि उनकी निगरानी के लिए तैनात अंग्रेजी रेजीडेंट कलकत्ते में बैठे बड़े लाट को क्या रपट भेज रहा है, कि बड़ा लाट सात समंदर पार विलायत में अपने आकाओं को क्या लिख रहा है।"[40] के फलस्वरूप 1856 ई. में अवध में नवाबी शासन के अंत के साथ ही आम रिआया की नियति स्थानीय तालुकेदार और जमींदार की नियति के साथ जुड़ गई – "तालुकेदार नहीं खुश रहेगा तो वह रिआया को खुश रहने देगा?"[41]

---

[40] पाहीघर, पृ. 20
[41] वही, पृ. 109

अब इन असामान्य स्थितियों में किसानों की राजनीतिक भूमिका एवं अधिकारों की कल्पना सहज ही की जा सकती है। इसकी चरम और कठोर अभिव्यक्ति 'पाहीघर में तब' दिखाई देती है जब नाव पर सवार राहगीर फिरंगियों की चर्चा करते हुए कहते हैं – "नवाबी रहे तो, फिरंगी आएँ तो, क्या फरक पड़ता है।"[42] निश्चय ही यदि अवध की आम रिआया ऐसा सोचती है तो कहीं न कहीं उसके मन में तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था के प्रति असंतोष है। इस शासन व्यवस्था में वह स्वयं को उत्पीड़ित, उपेक्षित समझती होगी, तभी उसके लिए एक विदेशी शासन अर्थात् विदेशी परतन्त्रता व गुलामी कोई नई बात नहीं लगती। तभी तो बसौली गाँव वाले एक स्थल पर वार्तालाप के क्रम में कहते हैं – "गरीबों का कोई पुछत्तर नहीं है, भैया। क्या नवाब और क्या फिरंगी? कोई हमारा करम थोड़े बदल देगा।"[43]

आगे की घटनाओं में यह स्पष्ट भी हो जाता है। हम देखते हैं कि इस विश्वास के कारण ही अवध की आम रिआया प्रायः 1857 के ऐतिहासिक उथल–पुथल के समय समस्त घटनाओं के प्रति तटस्थ है। अवध में आम रिआया प्रायः विद्रोह में सक्रिय भागीदारी करती नहीं दिखाई देती है। कम से कम 'पाहीघर' उपन्यास से तो यह स्पष्ट हो ही जाता है। 'पाहीघर' में ही एक जगह यह उल्लेख है – "भगोड़े देल्हूपुर से चले तो शाम ढल रही थी। गाँव वाले उन्हें सड़क तक छोड़ने आए थे। जब लेडीज बग्घियों पर सवार हो रही थी, वे सड़क के किनारे उदास खड़े थे। उन्हें लग रहा था, उनकी खातिरदारी में कोई कमी रह गई जिससे गोरों को गाँव छोड़कर जाना पड़ा"। इसी प्रकार एक जगह मरजाडी नामक एक नौकरानी, जो क्लारा के

---

[42] वही, पृ. 43
[43] पाहीघर, पृ. 102

यहाँ काम करती थी और राजनीतिक चेतना से प्रायः शून्य थी, क्लारा से कहती है – "नाश हो इन तिलगों का। हमें दो जून की रोटी मिलती थी। उसका भी आसरा खत्म कर रहे हैं।"[44]

उपन्यासकार ने जैकरन जैसे प्रतिनिधि किसान चरित्र और शंकर दूबे जैसे अर्द्धसामंत भूस्वामी वर्ग द्वारा युगीन घटनाक्रम में अवध के किसानों की राजनीतिक स्थिति और भूमिका को चित्रित किया है, जहाँ किसी भी नए राजनीतिक–सामाजिक व्यवस्था में उनकी कोई भागीदारी नहीं है। अवध के किसान अपने युगीन घटनाक्रम व राजनीतिक हलचलों से क्यों नहीं जुड़ सके, इसको स्पष्ट करते हुए कमलाकांत त्रिपाठी ने उपन्यास 'पाहीघर' में एक पात्र के माध्यम से उचित ही कहलवाया है – "फरक क्यों नहीं पड़ता। फिरंगी अदालतों का चक्कर देखा है? .....ऐरा–गैरा कोई भी अर्जी लगा दे तो भला आदमी मारा–मारा फिरे, मुंशी–मुख्तारों का चक्कर लगाए, कागज–पचर तैयार करवाए और गवाह ढूँढ़ता फिरे। फिरंगी राज में न ऊँच–नीच का भेद है न जात–पाँत का। जो कुछ धरम–मरजाद रह गया है वह भी चला जाएगा।"[45] वस्तुतः पारम्परिक मूल्यों के प्रति अतिशय मोह और अशिक्षा के कारण ही वह शोषण के उन सूक्ष्म तरीकों और तत्वों को नहीं पहचान पाता, जो उनकी दुर्दशा के लिए उत्तरदायी है।

वास्तव में इस सम्पूर्ण राजनीतिक उथल–पुथल की स्थिति में अवध के किसान वर्ग की भूमिका एक तटस्थ और पिछलग्गू समूह की है – "आम रिआया तालुकेदारों

---

[44] वही, पृ. 157
[45] पाहीघर, पृ. 44

का मुँह देख रही थी। वह तो उधर ही जाएगी, जिधर तालुकेदार–जाएँगे।"[46] यही कारण है कि 'पाहीघर' उपन्यास के माध्यम से हम देखते हैं 1857 के गदर में आम रिआया भी उधर ही मुड़ती है, जिधर का रुख उनके तालुकेदार करते हैं। "बंगाल आर्मी के सिपाही सुमेर सिंह भी कालाकाँकर के तालुकेदार राजा हनुमंतसिंह के संदेश और आम रिआया की भागीदारी के बाद ही देशी फौज का रिसालदार बनने को तैयार होते हैं

इस तरह हम देखते हैं कि 1857 के विद्रोह के इस समूचे परिदृश्य में किसानों की कहीं भी स्वतंत्र रूप से कोई राजनीतिक भूमिका नहीं है। बंगाल आर्मी के जवान जो मूलतः किसान परिवार से जुड़े हैं, का एक बड़ा वर्ग इस विद्रोह से पूरी तरह निरपेक्ष है –"थोड़ी दूर चलने पर सामने से कंपनी के कुछ सिपाही आते दिखे। थके हुए, निराश और मायूस। .....सिपाही रेजीमेंट टूटने से बहुत दुखी थे, उनकी रोजी–रोटी छिन गई थी और अनिश्चय की हालत में मजबूरन उन्हें अपने गाँव लौटना पड़ रहा था।"[47]

पुनश्च यदि हम विद्रोह के इस समूचे परिदृश्य को देखें तो स्पष्ट होता है कि विद्रोह में सक्रिय इन सिपाहियों के समक्ष भी कोई विराट राजनीतिक चेतना नहीं थी। अपितु सही अर्थों में इसके पीछे मूल कारण फौज में धार्मिक चेतना व भेदभाव की नीति ही प्रमुख थी, जिसके चलते सिपाहियों में असंतोष था। इसी प्रकार ब्रिटिश सत्ता को उखाड़ फेंकने के बाद किसी व्यावहारिक विकल्प का अभाव भी यह दर्शाता है कि सिपाहियों में स्पष्ट राजनीतिक चेतना का अभाव था।

---

[46] वही, पृ. 257
[47] वही, पृ. 199

समग्र रूप में हम यही कह सकते हैं कि तत्कालीन अवध के किसानों में राजनीतिक चेतना नहीं ही थी। कम से कम 'पाहीघर' पढ़ने पर तो यही आभास होता है। फिर उपन्यासकार ने जहाँ भी विद्रोह में अवध के किसानों की सक्रिय भागीदारी को चित्रित किया है, वह स्वतः स्फूर्त और अंग्रेजों के विरूद्ध विद्रोह से उपजी चेतना के रूप में नहीं अपितु उनकी नियतिवादी स्थिति के रूप में है – "आम रिआया तालुकेदारों का मुँह देख रही थी। वह तो उधर ही जाएगी, जिधर तालुकेदार जाएंगे।"[48]

[48] पाहीघर, पृ. 257

सन्दर्भ–संकेत

1. 1857 : निरन्तरता और परिवर्तन (उद्‌भावना) – अंक–75 – प्रदीप सक्सेना (संपा.), पृ. 449
2. पाहीघर – कमलाकांत त्रिपाठी – पृ. 14–15 – राजकमल पेपरबैक्स – 1994
3. वही, पृ. 30, राजकमल पेपरबैक्स, 1994
4. वही, पृ. 30
5. वही, पृ. 21, राजकमल पेपरबैक्स, 1994
6. वही, पृ. 22–23, राजकमल पेपरबैक्स, 1994
7. वही, पृ. 23, राजकमल पेपरबैक्स, 1994
8. वही, पृ. 15, राजकमल पेपरबैक्स, 1994
9. वही, पृ. 31, राजकमल पेपरबैक्स, 1994
10. वही, पृ. 82, राजकमल पेपरबैक्स, 1994
11. 'हंस' पत्रिका – जुलाई – 1992, पृ. 80, (वीरेन्द्र वरनवाल)
12. पाहीघर – कमलाकांत त्रिपाठी – पृ. 68 – राजकमल पेपरबैक्स, 1994
13. वही, पृ. 21, राजकमल पेपरबैक्स, 1994
14. वही, पृ. 296, राजकमल पेपरबैक्स, 1994
15. वही, पृ. 297, राजकमल पेपरबैक्स, 1994
16. वही, पृ. 298, राजकमल पेपरबैक्स, 1994
17. वही, पृ. 234, राजकमल पेपरबैक्स, 1994
18. वही, पृ. 272–273, राजकमल पेपरबैक्स, 1994

19. वही, पृ. 293, राजकमल पेपरबैक्स, 1994

20. वही, पृ. 16, राजकमल पेपरबैक्स, 1994

21. वही, पृ. 128, राजकमल पेपरबैक्स, 1994

22. वही, पृ. 63, राजकमल पेपरबैक्स, 1994

23. पाहीघर – कमलाकांत त्रिपाठी – पृ. 48, राजकमल पेपरबैक्स, 1994

24. वही, पृ. 48

25. अनभै साँचा : 1857, बगावत का दौर – मुरली मनोहर प्रसाद सिंह (संपा.)– पृ. 253

26. पाहीघर – कमलाकांत त्रिपाठी – पृ. 326, राजकमल पेपरबैक्स, 1994

27. वही, पृ. 330, राजकमल पेपरबैक्स, 1994

28. 'कथा' पत्रिका – (फरवरी–2000) – पृ. 167 – वीरेन्द्र यादव

29. पाहीघर – कमलाकांत त्रिपाठी – पृ. 19, राजकमल पेपरबैक्स, 1994

30. वही, पृ. 261, राजकमल पेपरबैक्स, 1994

31. वही, पृ. 21, राजकमल पेपरबैक्स, 1994

32. वही, पृ. 104, राजकमल पेपरबैक्स, 1994

33. वही, पृ. 84–85, राजकमल पेपरबैक्स, 1994

34. वही, पृ. 85, राजकमल पेपरबैक्स, 1994

35. वही, पृ. 85, राजकमल पेपरबैक्स, 1994

36. वही, पृ. 103, राजकमल पेपरबैक्स, 1994

37. वही, पृ. 105, राजकमल पेपरबैक्स, 1994

38. वही, पृ. 296, राजकमल पेपरबैक्स, 1994

39. वही, पृ. 325, राजकमल पेपरबैक्स, 1994

40. वही, पृ. 20, राजकमल पेपरबैक्स, 1994

41. वही, पृ. 109, राजकमल पेपरबैक्स, 1994

42. वही, पृ. 43, राजकमल पेपरबैक्स, 1994

43. वही, पृ. 102, राजकमल पेपरबैक्स, 1994

44. वही, पृ. 157, राजकमल पेपरबैक्स, 1994

45. वही, पृ. 44, राजकमल पेपरबैक्स, 1994

46. वही, पृ. 257, राजकमल पेपरबैक्स, 1994

47. वही, पृ. 199, राजकमल पेपरबैक्स, 1994

48. वही, पृ. 257, राजकमल पेपरबैक्स, 1994

उपसंहार

आज से लगभग 150 वर्ष पूर्व घटित 1857 के विद्रोह को आधार बनाकर लिखा गया 'पाहीघर' उपन्यास जिस प्रकार अवध में घटित विद्रोही घटनाओं के साथ–साथ अवध के लोकजीवन को अपनी सम्पूर्णता में प्रकट करता है, उससे 1857 के विद्रोह की 150वीं जयंती पर यह उपन्यास अत्यन्त महत्वपूर्ण व प्रासंगिक हो जाता है।

10 मई 1857 को उ.प्र. के मेरठ छावनी में सैनिकों ने जब विद्रोह किया तो अंग्रेज क्या अधिकांश भारतीय मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों तक ने यह नहीं सोचा था कि यह सैनिक विद्रोह बहुत जल्द ही देशव्यापी गदर का रूप धारण कर लेगा। यद्यपि यह विद्रोह तात्कालिक रूप में गाय और सूअर की चरबी को लेकर शुरू हुआ था तथा ब्रिटिश इतिहासकार इसे सैनिक असंतोष के रूप में ही देखते हैं परन्तु ध्यातव्य है कि कोई भी सामाजिक घटना अकस्मात नहीं घटती। 1857 का विद्रोह भी अकस्मात नहीं हुआ। इसे वर्ष विशेष तक सीमित रखना भूल होगी। वास्तव में 10 मई 1857 को जब मेरठ में सिपाहियों ने विद्रोह का झंडा बुलंद किया या उससे पहले मार्च के अंतिम सप्ताह में मंगल पाण्डे ने कलकत्ता के पास बैरकपुर में हिंसक प्रतिरोध का स्वर बुलंद किया तो यह सब लम्बे उत्पीड़न, शोषण और मानवीय स्थितियों की पराकाष्ठा थी। कंपनी की भूव्यवस्था, देशी राजाओं के राज्य को हड़पने के नाना हथकण्डे, विभिन्न क्षेत्रों में अंग्रेजों के बढ़ते घुसपैठ आदि ने भारतीय जनता के मन में अंग्रेजों के विरूद्ध एक आक्रोश को जन्म दे दिया था। इसी का परिणाम था – 1857 का विद्रोह।

मेरठ से शुरू हुआ यह विद्रोह बहुत जल्द एक व्यापक क्षेत्र में फैल जाता है। समूचा उत्तर भारत जिसमें अवध की महती भूमिका थी, विद्रोह की चपेट में आ जाता है। उत्तर भारत में विद्रोह के मुख्यतः पाँच केन्द्र थे – बिठूर, दिल्ली, लखनऊ, कलकत्ता, सतारा। इसके अतिरिक्त विद्रोह की आँच राजपूताना, पंजाब, मराठा क्षेत्र तथा दक्षिण में भी पहुँची थी। यह विद्रोह भारतीय इतिहास की एक अभूतपूर्व घटना थी। प्रारम्भ में तो लगा कि यह विद्रोह ब्रिटिश साम्राज्य के अस्तित्व को ही समाप्त कर देगा। परन्तु अंत में परिणाम विद्रोहियों के खिलाफ ही गया और एक बार पुनः अंग्रेज विद्रोह को सफलतापूर्वक दबाने में सफल रहे। वास्तव में देखा जाए तो विद्रोहियों ने अपने पक्ष में अनुकूल परिस्थितियों का प्रभावशाली ढंग से उपयोग नहीं किया, विशेषकर विद्रोह के आरम्भिक चरण में यह असंगठित ही रहा। फिर, विद्रोहियों को सिंधिया, होल्कर व राजपूताने से कोई सहयोग नहीं मिला। इसके अतिरिक्त विद्रोह का समय से पूर्व प्रारम्भ हो जाना भी उनके पराजय का एक बड़ा कारण था। इसके अतिरिक्त अंग्रेजों की तुलना में विद्रोहियों के पास सीमित संसाधनों का होना आदि कुछ ऐसे कारण थे, जिनके चलते विद्रोही अपने प्रयत्न में असफल रहे।

यद्यपि विद्रोह असफल रहा, परन्तु इसने ब्रिटिश साम्राज्य को व्यापक स्तर पर प्रभावित किया। पहली बार भारतीयों को अपनी शक्ति का अहसास हुआ। फिर, ब्रिटेन में भी इस विद्रोह को लेकर तीव्र प्रतिक्रिया हुई, जिससे कंपनी शासन को समाप्त कर भारत को ब्रिटिश साम्राज्ञी के अधीन कर दिया गया। अब ब्रिटिश भारतीय मामलों में कम से कम हस्तक्षेप करने लगे। इसके अतिरिक्त सीमित ही सही पर अंग्रेजों ने भारतीयों के कल्याण के लिए कुछ अधिनियमों को भी पास किया।

1857 के विद्रोह के स्वरूप को लेकर विद्वानों के बीच सदैव से विवाद रहा है। इसे सिपाही विद्रोह, सामंती प्रतिक्रिया, राष्ट्रीय विद्रोह तथा प्रथम स्वाधीनता संग्राम आदि अनेक नामों से अभिहित किया गया है। परन्तु ध्यान से देखा जाए तो प्रायः प्रत्येक नाम में कुछ न कुछ खामियाँ हैं। सिपाही विद्रोह इसलिए नहीं था कि इसमें सिपाहियों के अतिरिक्त बड़ी संख्या में किसानों, शिल्पियों, कारीगरों, जमींदारों व व्यापारियों ने भी भाग लिया था। इसी प्रकार यह पश्चगामी सामंती प्रतिक्रिया इसलिए नहीं थी, क्योंकि विद्रोह में जनता की भूमिका का विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि कई बार सामंतों के नेतृत्व न करने के बावजूद जनता ने विरोध जारी रखा, फिर पश्चमुखी सामंती शक्तियों ने विद्रोह में अपनी भागीदारी तब प्रारम्भ की, जब यह विद्रोह काफी हद तक फैल चुका था। इसे प्रथम राष्ट्रीय संग्राम भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि 1857 का विद्रोह किसी राष्ट्रीय चेतना का परिणाम नहीं था। आधुनिक इतिहासकारों का भी मत है कि 1857 के पूर्व तक भारत में राष्ट्रीय चेतना अनुपस्थित थी। उस समय आम भारतीय अपनी पहचान क्षेत्रीय संदर्भों में ही करते थे।

इस प्रकार व्यापक संदर्भों में देखा जाए तो 1857 के विद्रोह को किसान विद्रोह के रूप में देखा जा सकता है। नए राजस्व बंदोबस्तों से बेहाल किसानों ने विद्रोह में व्यापक भूमिका निभाई थी। फिर यह भी ध्यान देने की बात है कि किसानों की भूमिका मात्र पिछलग्गू की नहीं थी अपितु कुछ स्थानों पर तालुकेदारों के साथ न देने पर भी किसानों ने स्वतन्त्र निर्णय लिए, अतः विद्रोह को 'किसान–विद्रोह' कहना गलत न होगा। फिर, यदि किसान विद्रोह को अवध से जोड़ा जाए तो इस विद्रोह को 'अवध का विद्रोह' कहना अनुचित न होगा। विद्रोह की शुरूआत जिस बंगाल

रेजीमेण्ट के द्वारा हुई थी, उसके अधिकांश सिपाही और सवार अवध के किसान ही थे। 'पाहीघर' उपन्यास के पात्र कालीबकस, सुमेरसिंह, दुर्बली आदि अवध के किसान परिवार से ही संबंधित थे। चूंकि अवध के लगभग प्रत्येक घर से एक व्यक्ति सेना में था अतः अवध में कंपनी के कृत्यों का प्रभाव अवध के इन वर्दीधारी किसानों पर पड़ना स्वाभाविक था। ध्यातव्य है कि अवध के भूमि–बंदोबस्तों के विरोध में एक ओर सैनिकों ने 15 हजार अर्जियाँ दी थी वहीं दूसरी ओर विद्रोह में मरने वालों में दो लाख अवध के किसानों की संख्या शामिल थी। अतः 1857 का विद्रोह 'अवध के विद्रोह' का दूसरा रूप था। परन्तु यदि 'अवध के विद्रोह' नाम का आशय इसके क्षेत्रीय स्वरूप को आगे रखना तथा विद्रोह की राष्ट्रीय महत्ता को कमतर करके आँकना है, तो यह उचित नहीं है। क्योंकि अंततः विद्रोहियों के बीच उपनिवेशवाद के विरूद्ध एक भावनात्मक लगाव था। संक्षेप में, नकारात्मक नहीं अपितु सकारात्मक अर्थों में 1857 के विद्रोह को किसानों की भूमिका के सापेक्ष देखते हुए 'अवध का विद्रोह' कहा जा सकता है।

1857 के विद्रोह में स्त्रियों और दलितों ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया, जिसे प्रायः इतिहासकारों द्वारा भुला दिया जाता है। परन्तु ध्यातव्य है कि 1857 के गदर में आहुति देने वाली अनेक वीरांगनाओं के नाम भले ही इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में नहीं लिखे गए, परन्तु जितने भी नाम मिलते हैं उससे यह तो स्पष्ट होता ही है कि हमारे देश में नारी शक्ति को किसी भी कीमत पर कम नहीं समझा जा सकता है। 1857 में बेगम हजरत महल ने अवध में विद्रोहियों का नेतृत्व करते हुए जिस अदम्य साहस का परिचय दिया, उसके किस्से आज भी अवध के गाँवों में सुने जा

सकते हैं। इसी प्रकार, 'खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी' – इस सुप्रसिद्ध कविता से भारत का बच्चा–बच्चा परिचित है। इन वीरांगनाओं के अलावा दिल्ली के अंतिम मुगल बादशाह की बेगम जीनत महल, कानपुर की नाचने–गाने वाली अजीजन बाई, अवध में पौने दो वर्ष तक क्रांति भावना को जलाये रखने वाली बेगम आलिया, रामगढ़ की रानी अवंतीबाई, अनूपशहर की क्रांतिकारी चौहान रानी, तुलसीपुर के राजा दृगराज सिंह की क्रांतिकारी रानी ईश्वर कुमारी, जालौन की तासीबाई, दिल्ली की महिला पंडीरानी, ग्वालियर की बैजबाई, बहादुरशाह की बेटी बस्तीबेगम तथा बुदरी की ठकुरानी का नाम इतिहास में सदा अमर रहेगा।

स्त्रियों के साथ–साथ दलितों ने भी 1857 के विद्रोह में महती भूमिका निभाई है, जिसकी तरफ इतिहासकारों का ध्यान कम ही गया है। मातादीन भंगी, जिसने लोटा माँगने पर मंगल पाण्डे की फटकार सुनी तथा उन्हें वास्तविकता का परिचय देकर विद्रोह के लिए प्रेरित किया, लक्ष्मीबाई की सहयोगी झलकारी बाई तथा उसके पति पूरन कोरी, कानपुर का लोचन मल्लाह, महाबीरी देवी, उ.प्र. के मछली शहर के बाँके चमार आदि कुछ थोड़े दलितों के नाम हैं जिन्होंने इस विद्रोह में योगदान दिया था। इसके अतिरिक्त आदिवासियों का भी विद्रोह में अभूतपूर्व योगदान रहा। ध्यातव्य है कि इतिहासकारों व विद्वानों का ध्यान इस तरफ कम ही गया है। अतः आवश्यकता है कि 1857 के विद्रोह में स्त्रियों, दलितों व आदिवासियों की भूमिका का नए शिरे से अध्ययन किया जाए।

ज्ञातव्य है कि कमलाकांत त्रिपाठी जी ने अपने उपन्यास 'पाहीघर' में 1857 के गदर का विस्तार से वर्णन तो किया ही है साथ ही साथ इन हलचलों के बीच अवध

के लोकजीवन को उसकी पूरी जीवंतता के साथ प्रकट करने में भी कोई कमी नहीं छोड़ी है। ज्ञातव्य है कि 'लोक' जो अपने व्यापक अर्थ में जनसाधारण का वाचक है, की अभिव्यक्ति लोक साहित्य में होती है। इस लोक–साहित्य के अन्तर्गत लोकगीत, लोकनाट्य आदि प्रमुखता से आते हैं। अवध की लोक संस्कृति व लोकजीवन भी वहाँ के लोकगीतों में प्रचुरता में मिलता है। रचनाकार ने अवध के इसी लोकजीवन को अपने उपन्यास 'पाहीघर' में पूरी जीवंतता के साथ प्रकट किया है। 'पाहीघर' उपन्यास पढ़ने पर अवध का लोकजीवन अपनी पूरी विविधता तथा विभिन्न रूप–रंगों में उभरकर हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। रचना को पढ़कर हम अवध की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक स्थिति का गदर के समय के तथा आज के संदर्भों में भी सहज अनुमान लगा सकते हैं, जो उपन्यास की सफलता का परिचायक है।

ग्रन्थानुक्रमणिका

आधार ग्रन्थ :

1. कमलाकांत त्रिपाठी — पाहीघर, राजकमल पेपरबैक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1994

सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. अमृतलाल नागर — गदर के फूल, राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली, संस्करण–2003
2. अमृतलाल नागर — आँखों देखा गदर (विष्णुभट्ट गोडशे वरसईकर कृत मराठी पुस्तक 'माझा प्रवास' का हिन्दी रूपान्तर) राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली, संस्करण–2003
3. आर.एल. शुक्ल (संपा.) — आधुनिक भारत का इतिहास, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दि.वि. संस्करण–1998
4. एस. आबिद हुसैन — भारत की राष्ट्रीय संस्कृति, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, नई दिल्ली, संस्करण–1987
5. कमलाकांत त्रिपाठी — जानकी बुआ (कहानी संग्रह), आर्य बुक डिपो, करोलबाग, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–1993
6. कमलाकांत त्रिपाठी — बेदखल (उपन्यास), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–1997

7. श्री के.सी. बंसल (संपा.) मार्क्स और एंगेल्स : भारत का प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम, सी.पी.आई. प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2007

8. कृष्णानन्द सागर 1857 की महाक्रान्ति, जागृति प्रकाशन, नोएडा, प्रथम संस्करण–2007

9. कृष्णदेव उपाध्याय लोक साहित्य की भूमिका, साहित्य भवन (प्रा.) लि., इलाहाबाद, संस्करण–1970

10. डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय लोकसंस्कृति की रूपरेखा लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण–1988

11. डॉ. गणेश दत्त सारस्वत हिन्दी लोकसाहित्य (प्रथम खण्ड) विद्या विहार, कानपुर, संस्करण–1981

12. जवाहर लाल नेहरू हिन्दुस्तान की कहानी (संक्षिप्त) सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2007

13. डॉ. भगवान दास माहौर 1857 के स्वाधीनता संग्राम का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव, कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर, संस्करण–1976

14. मधुकर उपाध्याय 1857 : राम कहानी सीताराम, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2007

15. मोईनुद्दीन हसन गदर 1857 (आँखों देखा विवरण), हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम सं.–1999

16. रामनरेश त्रिपाठी (संपा.) ग्राम साहित्य (पहला भाग),
हिन्दी मन्दिर प्रयाग, संस्करण–1937

17. रैल्फ फॉक्स उपन्यास और लोकजीवन,
पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लि.,
नई दिल्ली, संस्करण–1979

18. डॉ. विद्याविन्दु सिंह लोकमानस,
मधु प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण–1984

19. विवेकी राय स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और
ग्राम–जीवन, लोकभारती प्रकाशन,
इलाहाबाद, संस्करण–1974

20. विलायत जाफरी दहकता अवध,
प्रकाशन विभाग, दिल्ली, संस्करण–1990

21. विपिन चन्द्र भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष,
हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय,
दि.वि., संस्करण–1998

22. बी.एल. ग्रोवर, यशपाल आधुनिक भारत का इतिहास,
एस. चंद एण्ड कंपनी लि., नई दिल्ली,
संस्करण–2002

23. सतीश चंद्र मित्तल आधुनिक भारत,
एन.सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण–2003

24. डॉ. त्रिलोचन पाण्डेय लोक साहित्य का अध्ययन,
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद,
संस्करण–1978

समाचार पत्र एवं पत्रिकाएँ

समाचार पत्र :

1.	'हिन्दुस्तान' समाचार पत्र	11 मई, 2007
2.	'हिन्दुस्तान' समाचार पत्र	1 जनवरी, 2007
3.	'जनसत्ता' समाचार पत्र	18 मार्च, 2007
4.	'जनसत्ता' समाचार पत्र	12 अगस्त, 2007
5.	'हिन्दुस्तान' समाचार पत्र	8 अप्रैल, 2007
6.	'हिन्दुस्तान' समाचार पत्र	25 दिसम्बर, 2006
7.	'जनसत्ता' समाचार पत्र	3 जून, 2007

पत्रिकाएँ :

1.	अनभै साँचा 1857 : बगावत का दौर	जुलाई–दिसम्बर 2007 (संयुक्तांक) मुरली मनोहर प्रसाद सिंह (संपा.)
2.	उद्‌भावना (1857 : निरन्तरता और परिवर्तन)	अंक–75 (अप्रैल–जून–2007) प्रदीप सक्सेना (संपा.)
3.	नया पथ : 1857 पर विशेषांक	मई, 2007 मुरली मनोहर प्रसाद सिंह (संपा.)
4.	समकालीन जनमत	नवम्बर, 2006 रामजी राय (प्रधान संपादक)
5.	मीडिया (1857 पर विशेषांक)	
6.	आजकल	मई 2007, योगेन्द्र दत्त शर्मा (संपा.)
7.	समयांतर	फरवरी, 2007 पंकज बिष्ट (संपा.)
8.	कुरुक्षेत्र	मई, 2007 कैलाश चन्द मीना (प्रभारी संपा.)

9. प्रभात खबर — नवम्बर, 2006
हरिवंश (प्रधान संपा.)

10. FRONT LINE — June, 2007
N. Ram (Editor)

11. 'कथा' पत्रिका — फरवरी, 2000
वीरेन्द्र यादव

12. 'हंस' पत्रिका — जुलाई, 1992
वीरेन्द्र वरनवाल

13. 'योजना' पत्रिका — अगस्त, 2007
अनुराग मिश्रा (प्रधान संपा.)

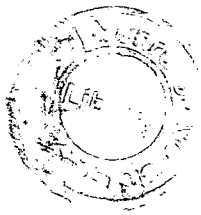

■